इस्लाम में उदारता

लेखक

मतीन तारिक़ बाग़पती

अनुवादक

कौसर लईक़

विषय-सूची

[भू]मिका 9

[उ]दारता का अर्थ 11-40

- उदारता का नैतिक महत्व 11
- धर्म में उदारता का स्थान 11
- उदारता का सामाजिक महत्व 12
- समाजशास्त्रियों की राय 12
- मौलाना मौदूदी (रह०) की नज़र में उदारता 13
- वार्ता का सार 13
- उदारता के सिलसिले में दुनिया के आम हालात 14
- रोमी सभ्यता और उदारता 17
- परास्त लोगों को सज़ाएँ 18
- ईरान की हालत 20
- रोम और ईरान के आपसी अत्याचार 20
- यूनान की दुर्दशा 21
- यूरोप की स्थिति 22
- ब्रिटेन में नार्मनों का दौर 23
- जैफ़रे की अदालत 24
- अमेरिका और उसकी नई आबादियाँ 24
- दक्षिण अमेरिका में शासितों व गुलामों के साथ व्यवहार 25
- इस्लाम से पहले अरबवासियों की हालत 25
- अज्ञानता-काल की कुछ घटनाएँ 26
- इस्लाम में उदारता की शिक्षा 27
- इस्लाम के मूलग्रंथ कुरआन में उदारता का उल्लेख 30
- अच्छे व्यवहार का आम आदेश 31
- जंग की इस्लामी अवधारणा 33

समझौते की दरख़्वास्त रद्द न की जाए 33
इस्लामी युद्ध-विधान 34
तबाहकारी का विरोध 37
लाश के अंग-भंग करने पर रोक 37
जंगे बद्र की मिसाल 38
हज़रत उमर (रज़ि॰) का क़ातिल और हज़रत अब्दुल्लाह बिन उमर (रज़ि॰) 39

धार्मिक स्वतंत्रता 41-6
धार्मिक स्वतंत्रता के निर्देश 41
ग़ैर-मुस्लिमों के साथ समझौते में अपनाए गए नियम 42
नजरान के ईसाई और अल्लाह के रसूल *(सल्ल॰)* 43
सर म्यूर का सम्माननीय बयान 44
इतिहासकार मिस्टर जैसन की राय 44
एक और अंग्रेज़ लेखक की राय 45
पत्रिका 'विशाल भारत' की स्वीकारोक्ति 46
सफ़वान बिन उमैया का वाक़िआ 48
सुमामा बिन उसाल का वाक़िआ 48
लूटमार पर रोक 49
हज़रत मुहम्मद *(सल्ल॰)* के प्यारे साथियों का आचार-व्यवहार 50
हज़रत उमर (रज़ि॰) की बुद्धिमत्ता 5
हज़रत उसमान *(रज़ि॰)* के दौर का वाक़िआ 5
हज़रत उमर बिन अब्दुल अज़ीज़ और दमिश्क़ का गिरजा 5
मरियम के गिरजे की तामीर 5
एडवर्ड गिब्बन की राय 5
हिरक़्ल और मुस्लिम शासकों का मुक़ाबला 5
अन्य न्यायप्रिय लेखकों का मत 5
सुलतान सलाहुद्दीन अय्यूबी और ईसाई 5
दुश्मन के बच्चे का मसला 6

सुलतान मुराद और उदारता 61
मुस्लिम शासकों से संबंधित ईसाइयों के पत्र 62

जनैतिक स्वतन्त्रता 65-92
इस्लामी व्यवस्था और उसकी बुनियाद 65
इस्लाम के पैग़म्बर हज़रत मुहम्मद *(सल्ल॰)* की राजनैतिक पद्धति 66
न्याय का सर्वोच्च आदर्श 67
ग़ैर-मुस्लिमों के अधिकार 68
जिज़्या का क़ानून 69
इस्लामी हुकूमत की आम धारणा 69
कुछ ऐतिहासिक घटनाएँ 70
वचन का पालन और कुरआन की शिक्षा 73
वचन का पालन करने की कुछ सुप्रसिद्ध घटनाएँ 73
हज़रत उमर *(रज़ि॰)* और वचन का पालन 75
अमीर मुआविया *(रज़ि॰)* और रोम के निवासी 76
ऐतिहासिक प्रमाण 78
गुलाम के वादे पर भरोसा 80
इस्लाम में गुलाम की हैसियत 81
इस्लाम में ज़िम्मियों का स्थान 81
ज़िम्मी और हज़रत उमर *(रज़ि॰)* 81
एक यहूदी भिखारी और ख़लीफ़ा द्वितीय 82
हज़रत अली (रज़ि॰) की ज़िरह (कवच) और यहूदी 83
मसीहियों पर रोमियों के ज़ुल्म और अत्याचार 84
हज़रत उमर-बिन-अब्दुल अज़ीज़ (रह॰) और ग़ैर-मुस्लिम 85
ख़लीफ़ा 'हारून-अर-रशीद' और ईसाई 86
सुल्तान मुहम्मद (द्वितीय) और विलाचिया के ईसाई ,86
अब्दुर्रहमान (तृतीय) — स्पेन के शासक का आम हुक्म 87
रॉबर्टसन का न्यायपूर्ण बयान 87
जिज़्या और ग़ैर-मुस्लिम 88
जिज़्या की उचित राशि 88

जिज़्या वसूल करने की शर्तें 89
शहर 'हमस' की ऐतिहासिक घटना 90

सामाजिक स्वतंत्रता और ग़ैर-मुस्लिम 93-15(
सामाजिक स्वतंत्रता 93
शराब का कारोबार 93
सुअर-मांस का व्यापार 94
शंख बजाना 94
कुरआन के आदेश 95
न्याय और इनसाफ़ 95
क्षमा व सहनशीलता 96
अच्छे शिष्टाचार की प्रेरणा 97
रसूल *(सल्ल०)* का फ़रमान 97
पड़ोसियों के अधिकार 99
अच्छा व्यवहार अपनाने की आम प्रेरणा 100
माता-पिता के साथ सद्व्यवहार 101
अहले-किताब के साथ खाना-पीना 102
मुस्लिम और ग़ैर-मुस्लिम औरत 104
अच्छे शिष्टाचार की सामान्य घटनाएँ 104
ग़ैर-मुस्लिम चिकित्सकों की सरपरस्ती 105
दानशीलता 107
भारत में मुस्लिम शासन की विशेषताएँ 109-16(
भारत और मुस्लिम शासक 109
मुहम्मद-बिन-क़ासिम 110
मुहम्मद-बिन-क़ासिम की विशाल-हृदयता का प्रमाण 111
एक हिन्दू विद्वान की गवाही 112
सर विलियम म्यूर की दोटूक टिप्पणी 113
उत्तरी सीमा से मुसलमानों का प्रवेश 113
सुलतान महमूद ग़ज़नवी और हिन्दू लेखकगण 114
पंडित जवाहर लाल नेहरू का बयान 115

महमूद ग़ज़नवी और राजा आनन्दपाल 116
महमूद और सोमनाथ का मंदिर 117
ग़ैर-मुस्लिम इतिहासकार 118
महमूद का न्याय 119
अन्य मुस्लिम शासक और हिन्दू 120
अख़बार 'केसरी' की खोज 121
नासिरुद्दीन और शाही ख़ज़ाना 123
ग़यासुद्दीन बलबन की न्यायनिष्ठता 124
कशमीर का मुस्लिम सुलतान और हिन्दू 124
हिन्दी साहित्य और मुसलमान 126
हिन्दू उपदेशकों और सुधारकों को स्वतंत्रता 127
इतिहास के प्रामाणिक उद्धरण 128
शेरशाह और भारतीय इतिहास 128
पंडित जवाहर लाल नेहरू का बयान 128
बलात् धर्म-परिवर्तन की कहानियाँ 129
शेरशाह और भारत की उन्नति और विकास 129
शेरशाह के फ़ैसले की कुछ सच्ची घटनाएँ 130
मुग़लों का शासनकाल और ग़ैर-मुस्लिम प्रजा 131
रानी चन्देरी और बाबर 133
'मिलाप' समाचार पत्र की टिप्पणी 134
अकबर और हिन्दू 134
ज्ञान और हुनर की उन्नति 134
वास्तुकला उन्नति 134
जहाँगीर के काल में भ्रष्ट कोतवाल को पद से हटाना 136
जहाँगीर के न्याय की दूसरी घटना 136
बंगाल के गवर्नर को सज़ा-ए-मौत 137
शाहजहाँ के काल में प्रजा की रक्षा 137
मुग़ल शासन-काल पर एक ग़ैर-मुस्लिम विद्वान की राय 138
पंडित नेहरू का मत 139
साहिल मानिकपुरी का बयान 140

दक्षिणी भारत और मुस्लिम शासक 140
पुर्तगीज़ी इतिहासकार की आँखों देखी गवाही 141
मैसूर के सुलतान 143
गांधी जी की दोटूक टिप्पणी 143
टीपू सुलतान और मंदिरों को अनुदान 144
टीपू सुलतान और होल्कर की बीवी 145
औरंगज़ेब आलमगीर और ग़ैर-मुस्लिम 146
आलमगीर खुद अपनी नज़र में 147
औरंगज़ेब आलमगीर के काल में हिन्दुओं को राजनैतिक स्वतंत्रता 148
कुछ ऐतिहासिक प्रमाण 150
हिन्दू-परवरी की सच्ची कहानियाँ 151
औरंगज़ेब और धार्मिक आज़ादी 152
एक अंग्रेज़ पर्यटक की आँखों देखी गवाही 153
डॉक्टर बरनियर का आँखों देखा हाल 154
मिस्टर टी॰ डब्लू आर्नल्ड का क़ीमती मत 154
इतिहासकार इन्फ़िस्टन का बयान 154
हिन्दू मंदिर और आलमगीर 155
बाबू निरंजन सेन का बयान 155
मंदिरों को भेंट और जागीरें 156
सत्यार्थ प्रकाश की गवाही 158
सारांश 158

बिसमिल्लाहिर्रहमानिर्रहीम

(अल्लाह के नाम से जो अत्यन्त करुणामय, दयावान है)

भूमिका

प्रस्तुत पुस्तक 'इस्लाम में उदारता' जनाब तारिक़ बाग़पती साहब की उर्दू पुस्तक 'इस्लाम और रवादारी' का हिन्दी अनुवाद है । इस पुस्तक में लेखक ने इतिहास के पन्नों से, विद्वानों और बुद्धिजीवियों के कथनों से तथा इस्लामी पुस्तकों एवं हज़रत मुहम्मद (सल्ल०) के जीवन से इस्लाम और मुसलमानों की उदारता के शानदार नमूने पेश किए हैं, जिसके लिए लेखक बधाई के पात्र हैं ।

लम्बे समय से इस्लाम और मुसलमानों के सम्बन्ध में यह दुष्प्रचार किया जाता रहा है कि इस्लाम अपने अलावा किसी अन्य धर्म को सहन नहीं करता और मुसलमान दूसरे धर्मवालों को सहन नहीं करते तथा मुसलमानों ने अपने शासनकालों में दूसरे धर्म के माननेवालों के साथ अत्याचार और क्रूरता का व्यवहार किया है । इस पुस्तक से ये आरोप न केवल निराधार और झूठे साबित होंगे बल्कि इस्लाम और मुसलमानों का सही स्वरूप भी सामने आएगा ।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना भी आवश्यक मालूम होता है कि इस्लाम एक जीवन-प्रणाली और एक मार्गदर्शन है, जिसका भेजनेवाला सर्वजगत् का पालनहार ईश्वर है । इसे उसने अपने सन्देष्टा हज़रत मुहम्मद (सल्ल०) के माध्यम से मानव को प्रदान किया है । अब जो इस मार्गदर्शन और जीवन-प्रणाली को अपनाता है वह ईश्वर का सच्चा भक्त अर्थात मुसलमान है और जो नहीं अपनाता वह इस्लाम से दूर और अलग है । यदि मुस्लिम शासकों ने अपने शासनकाल में कोई ग़लती की है और किसी अन्य धर्म के माननेवालों के प्रति क्रूर और अत्याचार पूर्ण व्यवहार किया है, तो इस्लाम उनकी भर्त्सना करता है और उसका दोष किसी प्रकार भी इस्लाम पर नहीं आता, यद्यपि इस प्रकार के आरोप तथ्यों पर आधारित नहीं हैं । साक्ष्य बताते हैं कि मुस्लिम शासकों ने अपनी प्रजा के साथ, चाहे उनका सम्बन्ध किसी भी धर्म से रहा हो उदारता, सहिष्णुता, निष्पक्षता और आत्मीयता का व्यवहार किया है । इस

पुस्तक में उन्हीं यथार्थ साक्ष्यों को सामने रखकर वार्ता की गई है। निष्पक्ष हृदय रखनेवाले न्यायप्रिय लोग पाएँगे कि केवल इस्लाम और मुसलमानों को बदनाम करने और उनके प्रति घृणा, वैमनस्य फैलाने के लिए कुछ लोग बड़ी होशियारी से मनगढ़ंत कहानियाँ आम करके, गढ़-गढ़कर, दुष्प्रचार करते हैं।

इस पुस्तक को पेश करने का उद्देश्य यही है कि हमारे समाज में परस्पर फैली ग़लत-फ़हमियाँ दूर हों, एक-दूसरे को जानने और समझने का वातावरण बने, हमारी शक्तियाँ और योग्यताएँ रचनात्मक कार्यों में लगें और हम सब मिलकर मानवता की सच्ची सेवा कर सकें।

इस पुस्तक का हिन्दी अनुवाद हमारे मित्र जनाब कौसर लईक़ ने किया है। हिन्दी संस्करण में आवश्यकतानुसार कुछ संशोधन भी किया गया है।

इस पुस्तक में यदि कोई त्रुटि या आपत्तिजनक बात नज़र आए तो हमें अवश्य सूचित करें। हम उसके सुधार का पूरा प्रयास करेंगे।

— प्रकाशक

उदारता का अर्थ

उदारता को फ़ारसी भाषा में रवादारी कहते हैं। रवादारी दो शब्दों से मिलकर बना है — पहला शब्द है 'रवा' और दूसरा शब्द है 'दारी'। शब्दकोश में 'रवा' के मानी 'उचित' और 'दारी' के मानी रखना है। लेकिन पारिभाषिक रूप में उदारता का अर्थ यह है कि एक इनसान या कोई गिरोह या हुकूमत उन बातों को जिन्हें वह उसूली तौर पर अपने दायरे में ग़लत समझती है दूसरों की भावनाओं का लिहाज़ करते हुए सहन करे। जिन बातों को वह नापसंद करती हो दूसरे इनसानों को, जो उन बातों को पसन्द करते हों, अपनाने दे।

उदारता का नैतिक महत्व

नैतिक दृष्टिकोण से देखा जाए तो उदारता एक बहुत महत्वपूर्ण गुण है। हम यह जानते हैं कि किसी एक चीज़ के बारे में तमाम इनसानों का एक दृष्टिकोण होना अनेक कारणों से संभव नहीं, इसलिए व्यक्तियों और क़ौमों के स्वभावों की भिन्नता को सामने रखते हुए ख़ुशी-ख़ुशी दूसरों की भावनाओं का आदर करना हमारी नैतिक ज़िम्मेदारी है।

धर्म में उदारता का स्थान

अक़ीदों और आस्थाओं का विभेद भी इसी श्रेणी में आता है। यह असंभव है कि सारे इनसान एक ही सोच और विचार के पाबंद हो जाएँ और उसके विस्तार और व्याख्या में भी उनके बीच मतभेद न रहे। इसलिए सिर्फ़ अक़ीदों और आस्थाओं में फ़र्क़ के आधार पर किसी इनसान से दुश्मनी और नफ़रत करना हर धर्म के निकट नापसंदीदा है और ख़ुदा को भी ऐसा व्यक्ति पसंद नहीं है जो दो प्यासे आदमियों में

अन्तर करे । अर्थात अपने गिरोह के प्यासे आदमियों को तो पानी पिला दे लेकिन दूसरे प्यासे व्यक्ति को पानी इसलिए न पिलाए कि वह उसके गिरोह का नहीं है । अल्लाह की रहमत और कृपाएँ तो हिन्दू, मुसलमान, सिख, ईसाई आदि सबपर बराबर होती हैं और वह हर जानदार के लिए उसकी ज़रूरत की चीज़ें उपलब्ध कराता है । तो फिर हमारे लिए यह कैसे सही हो सकता है कि हम सिर्फ़ इस बुनियाद पर कि जो व्यक्ति या गिरोह हमारे विचारों व अक़ीदों का माननेवाला नहीं उससे नफ़रत या दुश्मनी रखें और उसपर ज़ुल्म व अत्याचार करें ।

उदारता का सामाजिक महत्व

इनसान एक सामाजिक प्राणी है । उसके व्यक्तिगत जीवन के साथ दूसरे लोग भी जुड़े हुए हैं । इसी परस्पर मेल-मिलाप से सामाजिक जीवन का निर्माण होता है । संस्कृति में चार चाँद लगते हैं । संबंधों में मज़बूती,- प्रेम एवं निष्कपटता, एक दूसरे की भलाई, न्याय व परोपकार, ये शिष्टता व नैतिकता के बुनियादी तत्व हैं । सामाजिक जीवन में क़दम-क़दम पर इनकी ज़रूरत है । एक क़ौम का दूसरी क़ौम से, एक देश का दूसरे देश से और एक नस्ल का दूसरी नस्ल से वास्ता पड़ता है । अगर ऐसे मौक़ों पर उदारता से काम न लिया जाए तो सामाजिक जीवन और अख़लाक़ का ताना-बाना बिखर सकता है और इनसान उन्नति के शिखर तक पहुँचने में असफल हो सकता है ।

समाजशास्त्रियों की राय

एक पश्चिमी विचारक का कहना है कि हमारी हमदर्दी और दोस्ती सिर्फ़ अपने ही धर्म और नस्ल के लिए सीमित नहीं होनी चाहिए, बल्कि हमारी दोस्ती का दायरा इतना विस्तृत और फैला हुआ होना चाहिए कि इसमें तमाम क़ौमों के लोग बिना किसी भेद के समा सकें ।

आम इनसानों की हमदर्दी को नज़रअन्दाज़ करके सिर्फ़ अपने सम्प्रदाय और अपनी पार्टी के लिए भलाई चाहने की भावनाएँ रखनेवाले इनसान की ज़िन्दगी को 'मानसिक संकीर्णता' का नाम दिया जाएगा ।

एक और समाजशास्त्री का कहना है कि इनसान को जानवर पर इसलिए श्रेष्ठता प्राप्त है कि इनसान हमदर्दी, भाईचारे और दया की भावनाएँ रखता है। जानवर को यह चेतना नहीं दी गई कि वह अपने सजातीय जानवरों का ख़याल रखे, इसलिए इनसान के लिए ज़रूरी है कि वह परेशानी और बेबसी में दूसरे इनसानों की सहायता करे, उनके साथ हमदर्दी व प्यार का व्यवहार करे, उनके दुख में शरीक हो। उनके ज़ख़्मों पर हमदर्दी का फाया रखे, उनकी धार्मिक आस्थाओं (अक़ीदों) का सम्मान करे और यथासंभव इस बात की कोशिश करे कि दूसरों के दिल को कोई ठेस न पहुँचे।

मौलाना मौदूदी *(रह०)* की नज़र में उदारता

मौलाना सैयद अबुल आला मौदूदी *(रह०)* — जिनकी गिनती इस्लामी जगत् के महान विद्वानों और चिंतकों में होती है — उदारता का मतलब बयान करते हुए फ़रमाते हैं :

> "उदारता के मायने ये हैं कि जिन लोगों के अक़ीदे और धारणाएँ हमारी निगाह में ग़लत हैं उनको हम बर्दाश्त करें और उनकी भावनाओं का लिहाज़ करके उनपर ऐसी नुक्ताचीनी और टिप्पणी न करें जो उनको दुख पहुँचानेवाली हो और उन्हें उनकी आस्थाओं से फेरने या उनके (धार्मिक) कर्म से रोकने के लिए ज़बरदस्ती का तरीक़ा न अपनाएँ, बल्कि दैनिक मामलों में विशाल हृदयता का सबूत दें।"

वार्ता का सार

ऊपर बयान की गई बातों पर नज़र डालने से मालूम होता है कि उसूली तौर पर उदारता दो तरह की होती है — एक यह कि एक ही क़बीले और गिरोह के लोग अपने क़बीले या गिरोह के लोगों के साथ प्यार व हमदर्दी का व्यवहार करें, परेशानी के वक़्त उनकी सहायता व मदद करें और अपने ही सजातियों तथा अपने धर्म के लोगों के विकास व निर्माण में प्रयासरत रहें।

दूसरी यह कि एक क़बीला, एक पार्टी, एक गिरोह और एक धर्म के लोग दूसरे गिरोह, दूसरे धर्म और पंथ से संबंधित लोगों के साथ आस्था व अक़ीदे में भेद

दूसरे गिरोह, दूसरे धर्म और पंथ से संबंधित लोगों के साथ आस्था व अक़ीदे में भेद और इख़्तिलाफ़ होने के बावजूद उनके प्रति आदर व सम्मान का व्यवहार करें। उनके दृष्टिकोण, विचार और आस्थाओं को नापसन्द करने के बावजूद भी उन्हें बर्दाश्त करें।

हक़ीक़त यह है कि नैतिकता का एहसास एक स्वाभाविक चीज़ है। सच्चाई, न्याय, वादे की पाबन्दी, प्रेम और स्नेह को मानवीय नैतिकता में पसन्दीदा निगाहों से देखा गया है। हमदर्दी, दया, दानशीलता और विशाल-हृदयता को सदा सम्मान मिला है। मिलनसारी, पड़ोसी से अच्छे व्यवहार और धर्म व समुदाय का अन्तर किए बिना पराये लोगों की सेवा और उनसे प्रेम करना — ये सभी अच्छे और पसन्दीदा काम समझे गए हैं।

लेकिन यह भी एक हक़ीक़त है कि दुनिया में आम तौर से 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' का नियम प्रचलित रहा है। लोग सत्ता के घमण्ड में मनमानी करते रहे हैं। बड़ी मछली छोटी मछली को निगलती रही है। सत्ताधारी वर्ग ने कमज़ोर वर्ग की भावनाओं व आस्थाओं का कभी सम्मान नहीं किया और एक गिरोह के लोग दूसरे गिरोह की छाया से भी हमेशा बचते रहे हैं। मगर यह दुनिया की बड़ी खुशक़िस्मती थी कि खुदा ने अपने धर्म के द्वारा इन बातों की निन्दा कराई और मुसलमानों को भी ज़ुल्म व अत्याचार से दूर रहने का हुक्म देते हुए फ़रमाया —

> "किसी क़ौम की दुश्मनी तुम्हें इस बात पर न उभार दे कि तुम उससे न्याय न करो। न्याय करो, यही धर्मपरायणता से निकटतम है।"
>
> (क़ुरआन, 5:8)

मुसलमानों के चौदह सौ साल के इतिहास में कुछ अपवादों को छोड़कर, हमेशा इस उसूल पर अमल होता रहा है। प्रस्तुत पृष्ठों में इतिहास के उस दौर की हम एक संक्षिप्त समीक्षा पेश कर रहे हैं, ताकि अनावश्यक और व्यर्थ की आपत्तियाँ करनेवालों को सोचने-समझने का अवसर मिले और साम्प्रदायिक सद्भाव का माहौल बनने में आसानी हो।

उदारता के सिलसिले में दुनिया के आम हालात

दुनिया के इतिहास पर नज़र डालने से मालूम होता है कि इस्लाम से पहले क़बीलों और गिरोहों में मानवीय समानता और नैतिकता का एहसास बहुत कम था।

बल्कि इसके विपरीत आपस में ऊँच-नीच थी, नस्ल व रंग के भेद-भाव पाए जाते थे और छूतछात का आम रिवाज था। यह किसी एक देश या एक क़ौम की बात नहीं, बल्कि ज़मीन के हर हिस्से पर पक्षपात और जाहिलीयत की घटाएँ छाई हुई थीं। धार्मिक पक्षपात और जातीय घमण्ड के सबब एक गिरोह दूसरे गिरोह की छाया से बचता था और यथासंभव इस बात की कोशिश करता था कि कल्याण और विकास के फ़ायदे सिर्फ़ उसकी अपनी क़ौम और उसके अपने समुदाय को ही हासिल रहें और दूसरे लोग खुदा की दी हुई नेमतों से वंचित ही रहें और वे उसके गुलाम और अधीन बने रहें।

दुनिया की क़ौमों के सोचने का यह अस्वाभाविक ढंग हमेशा विश्व-व्यापी बिगाड़ का कारण सिद्ध हुआ है। नस्ल, रंग, भाषा, वतन और राष्ट्रीयता का पक्षपात प्राचीन काल से आज तक, हर दौर में पाया जाता रहा है और इनसान आम तौर पर इनसानियत की अनदेखी करके अपने चारों तरफ़ छोटे-छोटे दायरे खींचता रहा है। उन सीमाओं के अन्दर पैदा होनेवालों को उसने अपना समझा और उनसे बाहर पैदा होनेवालों को पराया समझा। ये दायरे और सीमाएँ बौद्धिक और नैतिक आधार पर नहीं, बल्कि संयोगवश पैदा होने की बुनियाद पर खींचे गए हैं। मिसाल के तौर पर—

शुरू में एक क़बीला, एक ख़ानदान और एक नस्ल के लोगों ने अपने रहने-बसने के लिए ज़मीन का एक क्षेत्र चुना और वहाँ रहने लगे और दूसरी नस्लों के लोग दूसरे क्षेत्रों में आबाद हुए, मगर बजाए इसके कि उनमें आपसी मेल-जोल, लेन-देन और भाई-चारगी के संबंध स्थापित होते, उलटा एक इलाक़े के लोग दूसरे इलाक़े के लोगों को नस्ल और ख़ून के आधार पर छोटा या बड़ा समझने लगे। एक क़बीला दूसरे क़बीले पर ताक़त और तादाद के बल पर ग़ालिब होने की कोशिश करने लगा, तो दूसरा उसी से कशमकश और विरोध पर उतर आया। नस्ल और ख़ून के इस भेद-भाव ने ख़ून ख़राबे, लूट-मार और तबाही के साधन जुटाए। नस्ली बड़ाई के घमण्ड ने ताक़त-आज़माई को जन्म दिया। यानी एक क़बीला कहता कि हम फ़लाँ नस्ल के हैं और हमारी बहादुरी का जवाब नहीं। दूसरा कहता कि हम तुमसे ऊँचे हैं। इस तरह मुक़ाबिले होते और हज़ारों लोगों का ख़ून बहता।

इसी तरह रंग व भाषा का अंतर भी इनसानों के लिए मौत और तबाही का

कारण बना, क्योंकि लोगों ने समझा कि एक रंगवाले एक जाति दूसरे रंगवाले दूसरी जाति, सफ़ेद रंग को ऊँचा और आदरणीय माना गया और काले रंग को तुच्छता और अपमान की निशानी समझा गया। इसी तरह एक भाषा बोलनेवाले एक गिरोह और पार्टी बन गए और दूसरी भाषा बोलनेवाले उनसे अलग हो गए। इनसानों ने आपस में नस्ल, रंग और भाषाओं की बुनियाद पर एक-दूसरे से नफ़रत, दुश्मनी उपेक्षा व अनादर और ज़ुल्म व अत्याचार का व्यवहार जारी रखा। एक-दूसरे को नीचा दिखाने की कोशिश की गई। देश-देश और क़ौम-क़ौम में हमेशा लड़ाइयाँ होती रहीं और जब भी कोई क़ौम या देश दूसरे देश या क़ौम पर क़ाबू पाता तो कमज़ोर के साथ ग़ैर-इनसानी सुलूक करता और उसको अपना ग़ुलाम बना लेता। ग़ुलामों की जो दयनीय स्थिति और दुर्दशा उस दौर में थी, वह मिस्टर आर॰ एच॰ बारू के इन शब्दों से स्पष्ट है, जो उन्होंने अपनी पुस्तक "रोमन एम्पायर में ग़ुलामी" की भूमिका में लिखे हैं। वे कहते हैं —

> "ग़ुलामी एक ऐसा शब्द है जो सुनते ही कानों को बुरा लगता है। इस शब्द के कान में पड़ते ही भारी ज़ंजीरों की झनकार, कोड़ों की चटाख-चटाख आवाज़ और पीड़ित ग़ुलामों की चीख़-पुकार की तस्वीर सामने आ जाती है।"

और वेस्टर मार्क ग़ुलामों के साथ सुलूक के सिलसिले में कहते हैं —

> "मालिक को अपने ग़ुलाम पर हर प्रकार का अधिकार था कि चाहे तो उसे ज़िन्दा रखे या मार डाले। ग़ुलामों को लिखने-पढ़ने और प्रतिष्ठित कार्यों से हमेशा रोका जाता था और जो उसके विरुद्ध करता था उसे सज़ा दी जाती थी।"

(अल इस्लाम वल हिज़ारतुल अरबीया, खण्ड-1, पृष्ठ-96)

कमज़ोर और अधीन क़ौमों के लोगों को मारना-पीटना, सताना तो मामूली बातें थीं, इससे भी आगे बढ़कर नाक-कान काट लेना, उनसे जानवरों का-सा सुलूक करना, उनकी औलाद को पैदा होते ही क़त्ल कर देना शासकों के विधान में सही था। क़ैदियों और पराजित लोगों को जंगली जानवरों के आगे फाड़ खाने के लिए छोड़ देना उस दौर का आम दस्तूर था, और कभी-कभी तो यह इनसानियत-दुश्मन और

ान्य हरकतें सिर्फ़ तमाशा और मनोरंजन के लिए की जाती थीं ।

अपने इस दावे के सुबूत में हम दुनिया की अनेक क़ौमों के हालात पर एक ऐतिहासिक दृष्टि डालते हैं ताकि यह अनुमान लगाया जा सके कि वे क़ौमें जो प्राचीन काल में सभ्यता व नैतिकता के क्षितिज पर सूरज व चाँद बनकर चमक रही थीं, दुनिया में चारों तरफ़ जिनकी शिष्टता और शालीनता मशहूर थी और जिनकी उन्नति के इतिहास को इनसानियत की तरक़्क़ी की अहम कड़ी समझा जाता था, उनका अपने अधीनों, गुलामों और दूसरी क़ौमों के साथ क्या बरताव था और उनके इतिहास की कहानी अपने अन्दर कितनी दर्दनाक घटनाएँ समेटे हुए है, और इस सभ्यता के इतिहास के हर पन्ने पर कितनी अत्याचारपूर्ण तसवीरें चस्पाँ हैं । हक़ीक़त यह है कि उन क़ौमों की ज़िन्दगी का अस्ल मक़सद कमज़ोर क़ौमों की आज़ादी को ख़त्म करने, मुल्कों की दौलत लूटने और ख़ुदा के बन्दों को उनके जाइज़ अधिकारों से वंचित करने के सिवा कुछ न था ।

रोमी सभ्यता और उदारता

रोम की सभ्यता जो आज तक दुनिया में प्रसिद्ध है, वह अपने दौर में एक पहलू से थी भी तरक़्क़ी के शिखर पर । पुराने ज़माने में वहाँ की सभ्यता, ज्ञान, साहित्य और शान व शौकत को दुनिया की दूसरी क़ौमों पर प्रमुखता और श्रेष्ठता प्राप्त थी, लेकिन रोमनिवासी अपने शासितों के साथ जिस बर्बरता का व्यवहार करते थे उसकी एक झलक देखिए —

> "रोमियों की संस्कृति ने मानव-जाति के साथ जिस दरिंदगी और दुष्टता का सुलूक वैध कर रखा था, इतिहास का एक-एक पन्ना इससे दाग़दार है । सामाजिक क्षेत्र में हालत यह थी कि रोमी साम्राज्य के बाज़ारों में इनसानों के बच्चे जानवरों की तरह बेचे जाते थे । धार्मिक- व्यवस्था में यह स्थिति थी कि यहूदी तो फिर भी दूसरे मज़हब के थे, स्वयं ईसाइयों में से जो किसी और सम्प्रदाय से संबंधित थे हिरक़्ल का एलान था कि उनके नाक-कान काट दिए जाएँ । राजनैतिक मामलों में महान यूनानी क़ानूनविद् सोलिन के इस कथन पर अमल होता था कि

समझौता मकड़ी का जाला है, जो अपने से कमज़ोर को फाँस लेता है और ताक़तवर के सामने टूट जाता है।''

परास्त लोगों को सज़ाएँ

उपरोक्त बातों से स्पष्ट है कि विजयी क़ौम कमज़ोर क़ौम के साथ हर प्रकार सुलूक को जाइज़ समझती थी, वह उसकी आज़ादी को छीन सकती थी, उसके म औरत, बच्चे, बूढ़े सबको अपना ग़ुलाम बना सकती थी, उसके साथ किए ग समझौतों को जिस वक़्त चाहे तोड़ सकती थी और उसको जिस तरह चाहे मुसीब में गिरफ़्तार कर सकती थी। अत: एक मशहूर किताब "Slavery in the Rom Empire" का लेखक अपनी इस किताब में लिखता है —

> ''उनके यहाँ ग़ुलामों को सज़ा देने के भी विचित्र ढंग प्रचलित थे। मिसाल के तौर पर किसी ग़ुलाम से कोई छोटा-सा जुर्म हुआ और उन्होंने एक बड़ा भारी पत्थर उसकी कमर पर लाद दिया और इसपर ज़ुल्म यह कि ग़ुलाम से कहा जाता कि इसी हालत में जाकर वह खेतों में खेती का काम करे। कभी उसको सज़ा के तौर पर उलटा लटका दिया जाता और बड़ी-बड़ी वज़नी चीज़ें उसके शरीर से बाँध दी जातीं और कभी उसको इस निर्दयता से मारा जाता कि बेचारा पिटते-पिटते जीवन के बन्धन ही से मुक्त हो जाता।''

इस बयान से साफ़ ज़ाहिर है कि रोमनिवासियों के दिमाग़ में दूसरी क़ौमों व जान और माल की कोई क़ीमत न थी। इतिहास से तो यह भी साबित है कि अप खेल के अखाड़ों की चहल-पहल को बाक़ी रखने के लिए कई-कई हज़ार आदमि को एक ही समय में दरिन्दों की ख़ुराक बनवा दिया जाता था।

अत: ''ट्रा जाँ'' के खेलों में ग्यारह हज़ार दरिन्दे और दस हज़ार आदमी ए ही समय में अखाड़े में उतरे और थोड़ी देर में वे ज़िन्दा इनसान ख़ूँखार जानवरों व ख़ूराक बन गए थे। (अल-जिहाद फ़िल-इस्लाम

क़ैसर आगस्टिस ने अपनी वसीयत के साथ लिखित रूप में यह बात ¹

लग्न की थी कि "मैंने आठ हज़ार तलवारधारियों और तीन हज़ार पाँच सौ दस 510) जानवरों के ख़ूनी खेल देखे हैं।" इससे स्पष्ट है कि सभ्यता और संस्कृति उच्च शिखर पर होते हुए भी उनमें पशुता का ऐसा तत्व मौजूद था कि वे मानवीयता के भयानक दृश्य और क्रूर खेलों को देखकर खुश होते थे। इसी लिए लामों और आश्रितों को सताने का कोई मौक़ा हाथ से जाने नहीं देते थे। अतः —

- सन्, 611 ई॰ में हिरक़्ल के राज्य सिंहासन पर आसीन होने के थोड़े समय बाद जब उसकी पत्नी यूडोक्सिया की मृत्यु हुई और उसका जनाज़ा क़ब्रिस्तान की ओर ले जाया जा रहा था तो संयोग से एक दासी ने जनाज़े के साथ चलते-चलते ज़मीन पर थूक दिया। इस क़सूर में उस बेचारी को फ़ौरन गिरफ़्तार कर लिया गया और उसके क़त्ल का आदेश दे दिया गया।

(Byzantine Empire, page-99)

- यही ज़ालिम लोग जब युद्ध के मैदान में उतरते थे तो उनमें फ़ौजी हैवानियत का जोश उमड़ पड़ता था। धन-दौलत का लालच, ख़ूबसूरत औरतों का लोभ और अपने बड़े होने का जुनून उनको खुला दानव बना देता था। वे जिस तरफ़ जाते क़त्ल और तबाही का बाज़ार गर्म हो जाता।

- रोम से अफ़्रीक़ा विण्डालों और यूरोप के गाथों का हमेशा युद्ध रहता था। उनके साथ जो पशुता का व्यवहार किया जाता था उसके ज़िक्र से इतिहास भरा पड़ा है। क़ैसर जस्तीनन के दौर में जब विण्डालों पर चढ़ाई की गई तो उनकी पूरी क़ौम का नाम व निशान मिटा दिया गया। युद्ध से पहले उस क़ौम में एक लाख साठ हज़ार (1,60,000) मुक़ाबला करनेवाले मर्द थे और इनके अलावा औरतों, बच्चों और गुलामों की भी एक बड़ी तादाद मौजूद थी। मगर रोमी हमलावरों ने जब उनपर क़ाबू पाया तो उनमें से एक व्यक्ति को भी ज़िन्दा नहीं छोड़ा। गिब्बन कहता है कि सारा देश इस तरह तबाह कर दिया गया था कि एक परदेसी पर्यटक उसके वीरानों में सारे-सारे दिन घूमता और उसे कहीं एक मनुष्य का चेहरा न दिखाई देता था। (Gibbon Vol.-5, Ch. 11-3)

ईरान की हालत

ईरान जो अपनी सभ्यता, संस्कृति और न्याय व इनसाफ़ के लिए प्राचीनकाल अपना एक उच्च स्थान रखता था और जहाँ खुसरो परवेज़, दारा और नौशेरवाँ जै उच्च श्रेणी के महाराजा हुए हैं, उसके इतिहास पर एक नज़र डालकर देखें —

- शापूर ज़ुल-इक्ताफ़ की घटना मशहूर है कि बहरैन और अल-हिसा के अर जंगी क़ैदियों से बदला लेने के लिए उसने आदेश दिया था कि उनकी बाहों सूराख़ करके उनके अन्दर रस्सियाँ पिरोई जाएँ और सबको मिलाकर बाँध दि जाए। इसी लिए इतिहास ने उसको ज़ुल-इक्ताफ़ यानी बाँधने वाले के नाम याद रखा है। (Sykes, vol. I और अल-जिहाद फ़िल-इस्लाम, पृ॰ 21

रोम और ईरान के आपसी अत्याचार

रोम और ईरान खुद आपस में हमेशा लड़ते रहे हैं। दोनों देशों की सल्तन एक-दूसरे को नीचा दिखाने की चिंता में लगी रहती थीं। जब कभी लड़ाई होती तो यह प्रण कर लिया जाता था कि दुश्मन को दुनिया से मिटाना है। मर्द, बच्चे बूढ़े, ज़ख़्मी, बीमार, संत और संन्यासी कोई भी फ़ौज के अत्याचार और उत्पीड़न नहीं बचता था।

- इस तरह ऐतिहासिक घटनाएँ गवाह हैं कि जब क़बाद के दौर (सन् 511 ई में ईरान की हुकूमत के इशारे पर हियरा के बादशाह मन्दज़ पर चढ़ाई की ग तो उसने अन्ताकिया में 400 संन्यासिनों को पकड़कर 'उज़्ज़ा' देवता पर ब चढ़ा दिया। (History of Persia, P-48
- खुसरो परवेज़ ने जब क़ैसर मारीस का बदला लेने के बहाने रोम पर हम किया तो अपने देश की सीमा में ईसाइयों के गिरजाघर ध्वस्त करा दिए। चढ़ाए हुए मालों को लूट लिया। सलीब (Cross) के पुजारियों व अग्नि-पूजा पर मजबूर किया। (Gibbon-Roman Empire, vol.5, Ch. XV

और सन् 615 ई॰ में बैतुल-मक़दिस फ़तह किया तो बित्रीक़े आज़म गिरफ़्तार कर लिया गया। सेंट हेलेना और क़ुस्तनतीनिया के भव्य गिरजाघरों

ाग लगा दी गई। वहाँ की वर्षों की इकट्ठा की हुई धार्मिक यादगारों को लूट ाया गया और नब्बे हज़ार (90,000) ईसाइयों को क़त्ल या क़ैद किया गया। इसके वाब में जब हिरक़्ल ने ईरान पर हमला किया तो आग के पुजारियों के अग्नि देरों को बरबाद कर दिया। 'ज़रतुश्त' की मातृभूमि उर्मियाह को जलाकर राख कर या और मजूसी (अग्नि-पूजा करनेवाले) मज़हब का अपमान करने में कोई कसर हीं छोड़ी।

- रोमियों की दुश्मनी में खुद ईरान की ईसाई प्रजा पर, जो वर्षों से वहाँ रहती चली आई थी, अत्यंत सख़्ती की गई, हालाँकि रोमी सल्तनत के ईसाई धर्म अपनाने से पहले तक ईरान के ईसाई सुरक्षित थे, मगर क़ुस्तनतीनिया के बपतिस्मा लेते ही ईरान का रवैया अपने ईसाई नागरिकों के साथ बदल गया। सन् 339 ई॰ में शापूर ज़ुल-इक्ताफ़ ने बिशप मार शैमून और 105 दूसरे पादरियों को क़त्ल करा दिया और बहुत-से गिरजाघरों और पूजास्थलों को ध्वस्त करा दिया। इसके बाद चालीस साल तक ईसाइयों पर अत्यन्त दर्दनाक सख़्तियाँ जारी रहीं। (Sykes, vol.I., p-448)
- बहराम ने मानविक सम्प्रदाय को मिटाने के लिए जो सख़्त कार्रवाइयाँ कीं वे सबसे ज़्यादा भयानक थीं। 'मानी' ने जब ज़रतुश्त के धर्म को छोड़कर अपने अलग धर्म की स्थापना की और बड़ी तादाद में लोग उसके अनुयायी बनने लगे तो बहराम ने नये धर्म के अनुयायियों को पकड़-पकड़कर क़त्ल कराना शुरू किया और खुद 'मानी' को गिरफ़्तार करके क़त्ल कराया। फिर उसकी खाल में भूसा भरवाकर उसको हदी साफ़ूर के दरवाज़े पर लटकवा दिया। यह दरवाज़ा एक लम्बे समय तक 'बाबे-मानी' यानी 'मानी-द्वार' के नाम से मशहूर रहा।

ूनान की दुर्दशा

यूनानियों के निकट इनसानों की दो क़िस्में थीं — एक आज़ाद और दूसरी ुलाम। यूनानी खुद अपने आपको आज़ाद कहते थे, और अपने अलावा दूसरे सब ोगों को गुलाम की हैसियत देते थे और उनसे गुलामों जैसा ही व्यवहार किया करते ।। यूनान में उनैना नामी एक बड़ा बाज़ार लगता था जहाँ दूसरे देशों से लोगों को

पकड़कर लाया जाता था और नियमित रूप से इनसानों का व्यापार होता था । ज
लोग इस तरह ख़रीदे व बेचे जाते थे उनको किसी प्रकार का सामाजिक व सांस्कृति
अधिकार हासिल नहीं था । उन्हें कोई धर्म भी अपनाने का अधिकार न था । इस ब
में अरस्तू का यह कथन मशहूर है —

"गुलाम एक मशीन है मगर जीवित और प्राणवान, एक खिलौना है मगर जानदार ।"

"इसके अलावा अपने भोग-विलास के लिए दौलत, सेवा के लिए दासियाँ और वासना-वृत्ति के लिए ख़ूबसूरत-हसीन लड़कियों की तलाश में वे पड़ोसी क़ौमों पर छापा मारते थे और अपने शिष्टाचार और अपनी उच्च शालीनता के बावजूद क़त्ल व फ़साद और ज़ुल्म व अत्याचार से कभी नहीं चूकते थे । यहाँ तक कि इस मामले में सिकन्दर महान भी इस आम नीति से अलग न रहा । इतिहास गवाह है कि शाम (सीरिया) के प्राचीन व्यापारिक केन्द्र "सूर" को जब उसने 6 महीने की सख़्त घेराबन्दी के बाद जीत लिया तो क्रोध के आवेश में आकर क़त्ले आम का आदेश दे दिया, और उस वक़्त जिस क़ौम को दुनिया की सबसे अधिक सभ्य क़ौम होने का गौरव प्राप्त था उसने आठ हज़ार (8000) निर्दोष इनसानों को क़त्ल किया और लगभग तीस हज़ार (30,000) लोगों को गुलाम बनाकर बेच डाला ।" (अल-जिहाद फ़िल-इस्लाम, पृ॰ 206)

यूरोप की स्थिति

यूरोप जो आज के दौर में सभ्यता व संस्कृति की मिसाल समझा जाता है, इस
विकसित दौर में भी अफ़्रीक़ा के निवासियों के साथ ऐसा सख़्त और क्रूर व्यवहार क
रहा है जो अत्यन्त शर्मनाक है । इस सिलसिले में एक ईसाई (धर्म प्रचारक) लिखत
है —

"यूरोप के दूसरे लोगों ने भी अफ़्रीक़ा के काले लोगों पर बड़े-बड़े अत्याचार किए हैं । इतने सख़्त कि अब उनका प्रायश्चित भी नहीं हो सकता । नतीजा यह हुआ कि अधिकतर नस्लें बिलकुल ख़त्म हो गईं । मिसाल के तौर पर मूनफ़री, फ़ालवा और निकोमी । श्वेत नस्ल के लोग

मण्डी आते थे और उन्हें और उनके बच्चों को बाँध करके ले जाते थे ।''

(हाज़िरुल-आलमिल-इस्लामी, लेखिका — Lothrop Slodderad)

इसी के समर्थन में एक और ईसाई लेखक लिखता है —

''यूरोपियन इसके आदी (अभ्यस्त) हो गए हैं कि सूडान के निवासियों के साथ उनकी सम्पति में झगड़ा करें और विविध प्रकार के सख़्त और असहनीय करों (Taxes) के नाम पर बड़ी-बड़ी रक़में वसूल करें । यह श्वेत-वर्ण लोग उन काले लोगों पर तरह-तरह के ज़ुल्म करते हैं । उनको मारते हैं, सख़्त पीड़ा देते हैं, उनके धन-दौलत को लूटते हैं, उनकी औरतों को अपने लिए वैध समझते हैं और उन ग़रीबों को भूखा मारते हैं । नतीजा यह हुआ है कि यहाँ के रहनेवाले अपनी मातृभूमि को छोड़कर दूसरे शहरों में जा बसे हैं और तमाम शहर उनसे ख़ाली हो गए हैं।''

(Black Man's Burden, इस्लाम और गुलामी से उदघृत, पृ०-213)

अपनी जन्मभूमि (वतन) को छोड़ने के लिए आदमी बड़ी मजबूरी में तैयार होता । मगर यूरोपीय नस्लों ने सूडानियों पर इतने ज़ुल्म ढाए हैं कि वे अपने वतन को छोड़कर अब दूसरे शहरों में दयनीय जीवन व्यतीत कर रहे हैं ।

ब्रेटेन में नार्मनों का दौर

ब्रिटिश-इतिहास में नार्मनों का दौर सुधार का दौर कहलाता है । इसमें कोई संदेह नहीं है कि विलियम ने विजय के बाद अपनी हद तक राष्ट्रीय और सामाजिक क़ानूनों में सुधार किया, लेकिन इसके बावजूद सामाजिक क्षेत्र में इतिहास के झरोखों से भेद-भाव के दृश्य साफ़ नज़र आते हैं । नार्मन लोग अपने आपको उस देश का पूर्ण अधिकारी और सर्वोच्च सत्ताधारी समझते थे । उनके अलावा देश की सीमा के अन्दर बसनेवाला हर निवासी गुलाम व दास था और गुलामों की जो दुर्दशा थी वह खुद ब्रिटिश-इतिहास के अध्ययन से स्पष्ट है ।

''उस ज़माने में सिर्फ़ जमींदार ही आज़ाद माने जाते थे और उनके अलावा दूसरे नागरिक, व्यांपारी, प्रोफ़ेसर और वकील आदि सबके सब गुलाम (slaves) समझे जाते थे, जिनकी हैसियत एंग्लो-सैक्सन ज़माने के गुलामों से बहुत कुछ मिलती-जुलती थी । हर जायदाद के साथ गुलाम

रहते थे, जो जानवरों की तरह बेच भी दिए जाते थे।''

(तारीख़े इंग्लिस्तान, पृ॰ 53, ले॰ शिव चंद कपूर, एम॰ ए॰, एडिनबरा

जैफ़रे की अदालत

सन् 1607 ई॰ में इग्लैंड तरक़्क़ी की काफ़ी मंज़िलें तै कर चुका था, उस वक़्त भी इस स्थिति में कोई अन्तर नहीं आया। शासितों के सिलसिले में मानसिकता ज्यों की त्यों बाक़ी रही। रंग व नस्ल के पक्षपात के कारण समाज में ज़बरदस्त भेद-भाव रहा। यहाँ तक कि अदालतों तक में इसी प्रकार के भेदभावपूर्ण व्यवहार होते थे, जिसका सुबूत जैफ़रे की ख़ूनी अदालत के उस मशहूर फ़ैसले से मिलता है, जिसके शब्द ये हैं –

> ''जैफ़रे ने बाग़ियों को बहुत सख़्त सज़ाएँ दीं। यहाँ तक कि बहुत-से निर्दोष किसान भी, जिनके खेतों से होकर बाग़ियों का गिरोह गुज़रा था, सज़ा के हक़दार क़रार दिए गए। तीन सौ से अधिक आदमियों को एक साथ फाँसी दी गई और उनके अलावा आठ सौ (800) आदमियों को गुलाम बनाकर बेच दिया गया और उनको पश्चिमी अल-जज़ाइर में देश निकाला देकर भेज दिया गया, जहाँ सख़्त धूप में उनको मिट्टी खोदने का काम दिया गया।''

(तारीख़े इंग्लिस्तान, पृ॰-136, ले॰ शिवचंद कपूर, एम॰ ए॰, एडिनबरा

अमेरिका और उसकी नई आबादियाँ

पक्षपात और भेदभाव की लानत अमेरिका में अंग्रेज़ों के द्वारा पहुँची। ये लोग अफ़्रीक़ा के तटवर्ती इलाक़ों से गिरोह के गिरोह हब्शी नस्ल के लोगों को पकड़कर वहाँ ले जाते थे, उनके साथ भेदभाव का बर्ताव करते थे और उनसे सख़्त काम लेते थे। कहीं-कहीं तो उन्हें जानवरों से भी बदतर समझा जाता था।

- उत्तरी अमेरिका की घटना है कि एक बार न्यूयार्क में अत्यधिक सख़्तियों से तंग गुलामों ने बग़ावत कर दी, जिसका नतीजा यह हुआ कि उनपर फ़ौजी हमला किया गया और जो गुलाम क़ैद होकर आता उसको या तो गाड़ी के पहियों के नीचे दबा दिया जाता या ज़िन्दा आग में जला दिया जाता।

दक्षिण अमेरिका में शासितों व गुलामों के साथ व्यवहार

उत्तरी अमेरिका की तरह दक्षिणी अमेरिका में भी महकूमों व गुलामों के साथ अत्यंत पाशविक व अत्याचारपूर्ण व्यवहार होता था। स्वामी को अपने गुलाम पर हर प्रकार का अधिकार प्राप्त था। यहाँ तक कि उसे ज़िन्दा रखने और मार डालने का भी वही मालिक समझा जाता था। वह अपने आश्रित तथा गुलाम को गिरवी रख सकता था। किराए पर दे सकता था। उसको जुए में दाँव पर लगा सकता था और सबसे अधिक विचित्र बात यह कि गुलाम शहर की सड़कों पर बिना अनुमति-पत्र के चल-फिर नहीं सकते थे और इससे बढ़कर ज़ुल्म यह कि अगर किसी सड़क पर सात गुलाम इकट्ठे नज़र आ जाते तो हर व्यक्ति को अधिकार था कि उन्हें क़ैद करा दे, चाहे उनके पास अनुमति-पत्र हो या न हो। गुलामों के संबंध में उन लोगों की आचार-संहिता का केन्द्रीय विषय यह वाक्य था —

> ''गुलाम एक बिना प्राण का शरीर और बे अक़्ल है और उसकी ज़िन्दगी हमारे हाथ में है।''
>
> (''इस्लाम में गुलामी'' से उद्धृत, पृ॰ 66)

इस्लाम से पहले अरबवासियों की हालत

अब ज़रा इस्लाम से पहले अरबों की हालत देखिए। अरबों में जंग एक जातीय पेशे की हैसियत रखती थी। मार-धाड़, क़त्ल, ख़ून-ख़राबा और लूट-मार उनका दिन-रात का पेशा था। निर्दयता और कठोर-हृदयता के कामों को वे खेल समझते थे। दूसरों की तुलना में अपने को ताक़तवर, उच्च और सम्मानित साबित करने के लिए वे हर प्रकार के ख़तरों को बर्दाश्त करने पर तैयार हो जाते थे। एक अरबवासी पसंद नहीं करता था कि उसकी चरागाह में दूसरे का ऊँट चरे या जिस झरने से वह पानी पीता हो उसपर दूसरा कोई आए या जिस जगह पर वह ठहरे वहाँ कोई दूसरा ठहरने का साहस करे। उसकी इच्छा होती थी कि जो कपड़ा वह पहने उस जैसा कोई दूसरा न पहन सके। उसके मुक़ाबले में किसी को बड़ा और सम्मानित न समझा जाए, उसके सामने किसी की प्रशंसा न की जाए। वह जिसको चाहे क़त्ल कर दे, कोई उससे ख़ून का बदला न ले सके। वह जिसपर चाहे हाथ

डाले, उसकी सेवा करने में कोई व्यक्ति शर्म न महसूस करे । यानी हर तरह इसको दूसरों पर श्रेष्ठता और बड़ाई प्राप्त रहे और उसके सामने कोई सिर न उठा सके ।

अतः इस्लाम से पहले के इतिहास के अध्ययन से पता चलता है कि जानवर चराने, घोड़ा आगे निकाल ले जाने और अपने डेरे पर आग जला लेने जैसी मामूली बातों पर ऐसी भयानक लड़ाइयाँ हुईं कि अल्लाह की पनाह! कई नस्लों तक ये लड़ाइयाँ चलती रहती थीं । विरोधी पक्ष के एक-एक व्यक्ति को जब तक पीस न दिया जाता, प्रतिशोध की आग बुझती ही न थी । कभी-कभी गुस्से के आवेग में आकर गर्भवती औरतों के पेट फाड़ डालते थे । पराजित क़बीले के लोगों को आग की यातना देने और ज़िन्दा जलाने में भी संकोच न किया जाता था ।

अज्ञानता-काल की कुछ घटनाएँ

- मशहूर लड़ाई 'हर्बे बसूस' जो 'तग़लब' और 'बक्र' क़बीलों के बीच पूरे चालीस साल तक जारी रही, सिर्फ़ इतनी-सी बात पर हुई थी कि बक्र क़बीले की ऊँटनी तग़लब क़बीले की चरागाह में घुस आई थी । कलीब नामी व्यक्ति ने गुस्से में आकर एक तीर मारा जो ऊँटनी के थन में जा लगा । ऊँटनी का मालिक उसको ज़ख़्मी देखकर चिल्लाने लगा — ''हाय, यह कितनी बेइज़्ज़ती है'' । बस फिर क्या था, बक्र क़बीले में इंतिक़ाम की आग भड़क उठी और दोनों क़बीलों में ऐसी लड़ाई ठन गई कि जब तक दोनों तबाह नहीं हो गए, तलवारें म्यान में न गईं । (अक़्दुल फ़रीद, भाग-3, पृ॰74-77)
- उकाज़ के मेले में क़बीला 'कनाना' का एक व्यक्ति बीच बाज़ार में पाँव फैलाकर बैठ गया और पुकारकर कहा : मैं अरब का सबसे इज़्ज़तदार व्यक्ति हूँ, जिस किसी को मुझसे अधिक इज़्ज़तदार होने का दावा हो वह मेरी टाँग मोड़ दे । इसपर 'दहमान' ख़ानदान का एक मनचला आगे बढ़ा और उसने उसके पाँव पर तलवार मार दी । यह चिनगारी दोनों क़बीलों में जंग की आग भड़काने के लिए काफ़ी थी । यह जंग 'हर्बे फ़ुजार' के नाम से इतिहास में अंकित है । एक लम्बे समय तक एक क़बीला दूसरे क़बीले के लोगों को मौत के घाट उतारता रहा । (अक़्दुल फ़रीद, भाग-3, पृ॰-86)

- अरब के इतिहास की एक मशहूर घटना यह भी है कि यमन के बादशाह 'ज़ू-नोवास' ने उन लोगों को जो उसके धर्म से फिर गए थे, पकड़वाकर भड़कती आग में झोंक दिया था। इसी तरह इमरउल क़ैस के बेटे मुंज़र के बारे में इतिहास के पन्ने गवाह हैं कि उसने जब 'शीबान' क़बीले पर विजय पाई तो उनकी औरतों को आग में जलाना शुरू कर दिया।
- 'जंगे उहुद' की घटना भी इस मौक़े पर सुबूत के लिए पेश की जा सकती है कि जिसमें अबू सुफ़ियान की बीवी हिन्दा ने हज़रत हमज़ा *(रज़ि.)* का कलेजा निकाल कर चबा लिया था। अर्थात् बदला लेने के जोश में मुर्दों तक को न छोड़ा जाता था।

यह एक संक्षिप्त विवरण है इस्लाम से पूर्व अरब का जिससे मालूम होता है कि उस समय आपसी लड़ाइयों और संघर्षों की क्या स्थिति थी, पराजित और कमज़ोर क़बीलों के साथ शक्तिशाली लोग क्या रवैया अपनाते थे, एक क़बीला दूसरे क़बीले के साथ किस तरह का व्यवहार करता था और एक गिरोह दूसरे गिरोह को किस तरह कुचलने, उसको तहस-नहस करने की फ़िक्र में लगा रहता था, और बदले के जोश में कैसी-कैसी हरकतें कर गुज़रता था।

- 'उक्ल' और 'उरीना' का क़िस्सा हदीसों में बयान किया गया है कि ये लोग नबी हज़रत मुहम्मद *(सल्ल.)* के चरवाहों को पकड़कर ले गए। उनके हाथ-पाँव काटे, उनकी आँखें फोड़ीं और उन्हें तपती हुई रेत पर डाल दिया, यहाँ तक कि वे प्यास और गर्मी की तकलीफ़ से तड़प-तड़पकर मर गए।

इस्लाम में उदारता की शिक्षा

इस घटाटोप अंधेरे में इस्लाम एक रौशनी का मीनार है जिसकी रौशनी हर एक पर फैली, जिसने पहले दिन से अमीर-ग़रीब, मालिक-ग़ुलाम और अपने-पराए सबको समान रूप से संबोधित किया और साफ़-साफ़ बताया कि ख़ुदा पूरी कायनात (ब्रह्माण्ड) का, ख़ुद इनसान का और यहाँ की तमाम उन चीज़ों का बनानेवाला है जिनसे इनसान इस दुनिया में लाभ उठा रहा है। जैसा कि ख़ुद उसी ने अपनी पुस्तक क़ुरआन मजीद में फ़रमाया भी है –

"और वही है, जिसने आसमान और ज़मीन को हक़ के साथ पैदा किया है।" (क़ुरआन, 6:73)

"लोगो, अपने रब से डरो जिसने तुमको एक जान से पैदा किया और उसी जान से उसका जोड़ा बनाया, और दोनों से बहुत-से मर्द और औरत दुनिया में फैला दिए।" (क़ुरआन, 4:01)

और दूसरी जगह फ़रमाया –

"तमाम इनसान एक ही समुदाय हैं।" (क़ुरआन, 2:213)

यानी किसी को किसी पर श्रेष्ठता प्राप्त नहीं। सभी लोग एक ही मर्द-औरत की औलाद हैं, एक समुदाय हैं, एक बिरादरी हैं, इसलिए उनमें आपस में मुहब्बत होनी चाहिए। एक को दूसरे का सम्मान करना चाहिए और हर इनसान को दूसरे इनसान के साथ भलाई, शिष्टाचार, भाईचारे का संबंध रखना चाहिए, क्योंकि सबको एक ही ख़ुदा ने पैदा किया है।

इसकी तरफ़ इशारा करते हुए क़ुरआन की एक दूसरी आयत में फ़रमाया –

"लोगो, हमने तुमको एक मर्द और एक औरत से पैदा किया और फिर तुम्हें क़बीले और खानदान बना दिया ताकि तुम एक-दूसरे को पहचानो। वास्तव में अल्लाह के निकट तुममें सबसे इज़्ज़तवाला और आदरणीय वह है जो तुम्हारे अन्दर सबसे अधिक परहेज़गार (ईशभय रखनेवाला) है।" (क़ुरआन, 49:13)

इस आयत की व्याख्या में इस्लामी विद्वान मौलाना मौदूदी *(रह.)* लिखते हैं :

"इस आयत में सारे इनसानों को संबोधित करके उस सबसे बड़ी गुमराही का सुधार किया गया है जो संसार में हमेशा विश्वव्यापी फ़साद का कारण बनी रही है, यानी रंग, नस्ल, भाषा, वतन, क्षेत्रीयता व राष्ट्रीयता का भेद-भाव। प्राचीन काल से आज तक हर दौर में इनसान आम तौर से इनसानियत की अनदेखी करके अपने चारों तरफ़ कुछ छोटे-छोटे दायरे खींचता रहा है, जिनके अन्दर पैदा होनेवालों को उसने अपना और बाहर पैदा होनेवालों को पराया क़रार दिया

है । ये दायरे किसी अक़्ल व नैतिकता के आधार पर नहीं, बल्कि संयोगवश पैदाइश के आधार पर खींचे गए हैं । कहीं उनका आधार एक ख़ानदान, क़बीले या नस्ल में पैदा होना है और कहीं एक भौगोलिक क्षेत्र में या एक विशेष रंगवाली या एक विशेष भाषा बोलनेवाली क़ौम में पैदा हो जाना है। फ़िर इन बुनियादों पर अपने और ग़ैर का जो अन्तर किया गया है, वह यहीं तक सीमित नहीं रहा कि जिन्हें इस लिहाज़ से अपना ठहराया गया हो कि उनके साथ ग़ैरों की तुलना में अधिक सम्बन्ध रखना और उनकी अधिक मदद करना हो, बल्कि इस अन्तर ने नफ़रत, दुश्मनी, तौहीन व बेइज़्ज़ती और ज़ुल्म व अन्याय की बदतरीन शक्लें अपना ली हैं । इसके लिए दर्शन घड़े गए हैं । मज़हब ईजाद किए गए हैं । क़ानून और नैतिक उसूल बनाए गए हैं । राज्यों और जातियों ने इसको अपनी स्थाई नीति बनाकर सदियों इस को व्यावहारिक रूप में लागू किया है । यहूदियों ने इसी आधार पर अपने आपको खुदा की चुनी हुई क़ौम ठहराया और अपनी धार्मिक शिक्षाओं तक में ग़ैर-इसराइलियों के हक़ों और रुतबे को इसराइलियों से कमतर रखा । हिन्दुओं के यहाँ वर्ण-आश्रम को इसी भेदभाव ने जन्म दिया, जिसके आधार पर ब्राह्मणों की बड़ाई स्थापित की गई । ऊँची जातिवालों की तुलना में तमाम इनसान नीच और नापाक ठहराए और शूद्रों को अत्यन्त अपमान के गढ्ढे में फेंक दिया । काले-गोरे के भेद-भाव ने अफ़्रीक़ा और अमेरिका में काले वर्ण के लोगों पर जो ज़ुल्म ढाए उनको इतिहास के पृष्ठों में तलाश करने की ज़रूरत नहीं, आज भी हर व्यक्ति अपनी आँखों से उन्हें देख सकता है । यूरोप के लोगों ने अमेरिकी महाद्वीप के अन्दर घुसकर 'रेड इंडियन' नस्ल के साथ जो बर्ताव किया और एशिया और अफ़्रीक़ा की कमज़ोर नस्लों पर अपनी सत्ता क़ायम करके जो बर्ताव उनके साथ किया उसकी तह में भी यही सोच काम कर रही थी कि अपने वतन और अपनी क़ौम से बाहर पैदा होनेवालों की जान, माल और आबरू उनके लिए वैध है और उन्हें हक़ पहुँचता है कि ग़ैर-क़ौमों को लूटें, गुलाम बनाएँ और ज़रूरत पड़े तो उन्हें दुनिया से मिटा दें । पश्चिमी देशों के राष्ट्रवाद ने एक देश को दूसरे देश के लिए जिस तरह दरिंदा बनाकर रख दिया है, उसकी बदतरीन मिसालें इस

सदी की लड़ाइयों में देखी जा चुकी हैं और आज देखी जा रही हैं । विशेष रूप से नाज़ी जर्मनी का मानवता-दर्शन और नार्डिक नस्ल की बरतरी की सोच पिछले विश्वयुद्ध में जो करिश्मे दिखा चुकी है, उन्हें सामने रखते हुए आदमी आसानी से अंदाज़ा लगा सकता है कि नस्लपरस्ती और राष्ट्रीय पक्षपात कितनी बड़ी और तबाह करनेवाली गुमराही है जिसके सुधार के लिए क़ुरआन मजीद की यह आयत अवतरित हुई ।

(तफ़्हीमुल क़ुरआन, खण्ड-5, पृ॰-95 से 96)

इस्लाम के मूलग्रंथ क़ुरआन में उदारता का उल्लेख

दुनिया के लोगों का हमेशा से यही नियम रहा है कि अपने से अलग लोगों और दूसरी क़ौमों के साथ भेदभाव का व्यवहार करते रहे हैं, जैसाकि ऊपर की पंक्तियों से स्पष्ट है । आज के विकसित दौर में भी दुश्मनों को कुचल डालने को प्रशंसनीय काम समझा जाता है, लेकिन जगत् का पालनहार अल्लाह मुसलमानों को हुक्म देता है कि दुनिया में चाहे जो कुछ हो रहा हो, तुम हरगिज़ ऐसा न करना कि किसी की दुश्मनी में न्याय और इनसाफ़ के रास्ते से हट जाओ, बल्कि इसके विपरीत वह कहता है —

> "अल्लाह तुम्हें इस बात से नहीं रोकता कि तुम उन लोगों के साथ भलाई और न्याय का व्यवहार करो जिन्होंने 'दीन' (धर्म) के मामले में तुमसे जंग नहीं की है, तुम्हें तुम्हारे घरों से नहीं निकाला है, अल्लाह न्याय और इनसाफ़ करनेवालों को पसन्द करता है ।"
>
> (क़ुरआन, 60:8)

> "किसी समुदाय की दुश्मनी तुम्हें इस बात पर आमादा न करे कि तुम न्याय ही को त्याग बैठो तुम हमेशा न्याय करो यही धर्मपरायणता (ईशपरायणता) के अनुकूल बात है ।" (क़ुरआन, 5 : 8)

अच्छे व्यवहार का आम आदेश

तात्पर्य यह है कि मुसलमान किसी से व्यर्थ की दुश्मनी न रखें, ग़लत क़िस्म की क़ौमपरस्ती में अंधे न हो जाएँ। जो व्यक्ति तुम्हारे साथ दुश्मनी नहीं रखता है, न्याय की माँग यह है कि तुम भी उसके साथ शत्रुता व दुश्मनी न रखो, बल्कि उनके साथ भलाई और इनसाफ़ का व्यवहार करो, जिन्होंने दीन के मामले में ज़ुल्म और ज़्यादती में हिस्सा नहीं लिया है। यहाँ तक कि उनके जो अधिकार, रिश्ते-बिरादरी और पड़ोसी होने के लिहाज़ से तुमपर अनिवार्य होते हैं उन्हें अदा करने में कमी न करो।

यही नहीं बल्कि जिन्होंने तुमपर ज़ुल्म किया हो और वे तुमपर फ़ौजें चढ़ा लाएँ, उनके मुक़ाबले में अपनी रक्षा करना तुम्हारा अधिकार है, मगर बुराई का बदला बुराई से न देकर, भलाई से दो —

> ''ऐ नबी, तुम बुराई को उस भलाई से दूर करो जो सबसे अच्छी हो, तुम देखोगे कि वह जिसकी तुम्हारे साथ दुश्मनी थी वह जिगरी दोस्त बन गया।'' (क़ुरआन, 41:34)

पवित्र क़ुरआन ने मुसलमानों को इनसानियत-दोस्ती की शिक्षा दी है। उसने मुसलमानों के दिल और दिमाग़ में यह बात बिठानी चाही है कि जिस अल्लाह पर तुम ईमान लाए हो वह सारी दुनिया का पालनहार है, सबको पालने-पोसनेवाला है। वह सिर्फ़ मुसलमानों का रब नहीं है कि दूसरों को क़त्ल करने से ख़ुश हो। उसने सिरे से फ़साद व जंग ही को बुरा समझा है, क्योंकि इससे नुक़सान होता है। उसने बड़ी विशेष हालत में जंग की इजाज़त दी है और कहा है —

> ''और तुम अल्लाह की राह में उन लोगों से लड़ो जो तुमसे लड़ते हैं, मगर ज़्यादती (बढ़कर अत्याचार) न करो, अल्लाह ज़्यादती करने वालों को पसन्द नहीं करता।'' (क़ुरआन, 2:190)

यह आयत बताती है कि —

1. जब मुसलमानों पर ज़ुल्म व अत्याचार किए जाएँ और उनसे लड़ने के लिए उनके दुश्मन निकल खड़े हों तो बचाव के लिए जंग करना जाइज़ है।

2. जब मुसलमानों को उनकी धार्मिक आस्थाओं के कारण प्रताड़ित किया जाए और उन्हें सिर्फ़ इसलिए सताया जाए कि वे मुसलमान हैं तो वे अपनी धार्मिक स्वतन्त्रता और अधिकारों की हिफ़ाज़त के लिए जंग कर सकते हैं।

3. जो लोग मुसलमानों पर ज़ुल्म करें, उनके अधिकार छीन लें और उन्हें उनके घरों से निकाल दें उनके साथ मुसलमानों को जंग करना जाइज़ हैं; लेकिन आदेश है कि उसमें भी ज़्यादती मत करो क्योंकि अल्लाह ज़ुल्म व ज़्यादती करनेवालों को पसन्द नहीं करता है।

इनसान की आदत है कि जब उसपर कोई हमला करता है तो वह भी (क्रोधित) होकर बदला लेने के जोश में आकर अपने दुश्मन को तहस-नहस कर देना चाहता है। लेकिन इस्लाम की शिक्षा है कि ऐसे लोगों से तुम लड़ सकते हो, मगर ज़्यादती न करो। लड़ना तो इसलिए ज़रूरी है कि अगर ज़ुल्म करनेवालों को खुली छूट दे दी जाए और उनका मुक़ाबला न किया जाए तो दुनिया में न अमन-सुकून बाक़ी रहे और न मस्जिदें व अन्य उपासनागृह। क्योंकि शैतान नहीं चाहता कि लोग एक ईश्वर की उपासना करें और नेक बनें। इसी लिए ऐसी हालत में जंग की इजाज़त दे दी गई —

> "इजाज़त दे दी गई उन लोगों को लड़ने की जिनके ख़िलाफ़ जंग की जा रही है क्योंकि वे मज़लूम (पीड़ित) हैं।" (क़ुरआन, 22:39)
>
> और —
>
> "अगर अल्लाह उन लोगों को एक-दूसरे के द्वारा हटाता न रहे तो ख़ानक़ाहें और गिरजा और उपासनागृह और मस्जिदें जिनमें बहुतायत से अल्लाह का नाम लिया जाता है, सब ध्वस्त कर डाली जाएँ।"
>
> (क़ुरआन, 22:40)

इस आयत में फ़िरक़ापरस्तों और ज़ुल्म व ज़्यादती करनेवाले लोगों की फ़ितरत को स्पष्ट किया गया है कि अगर भले लोगों के गिरोह के द्वारा उन्हें दूर न किया जाता रहे तो क़िले, महल और राजनीति-केन्द्र और कला व उद्योग के केन्द्र ही तबाह न कर दिए जाएँगे, बल्कि उपासनागृह तक उनके अत्याचारों से सुरक्षित न रह सकेंगे।

ग की इस्लामी अवधारणा

जंग का अर्थ लूट-मार, क़त्ल व ग़ारतगरी और तबाहकारी के सिवा दुनिया ने ार कुछ नहीं समझा, लेकिन इस्लाम ने इसमें "अल्लाह की राह में" (फ़ी बी-लिल्लाह) का प्रतिबंध लगा दिया है कि तलवार तो उठाओ मगर बुराई को टाने के लिए, अपराध, ज़ुल्म व अत्याचारों और फ़ितना-फ़साद को मिटाने के लिए ार उपद्रवियों से अल्लाह के नेक बन्दों, निर्दोष जनता, इबादतगाहों व मस्जिदों को ाने के लिए। जंग के बीच में भी कुछ आदेशों और सिद्धान्तों का पालन अनिवार्य प से करो। यानी औरतों, बच्चों, बूढ़ों, बीमारों, पूजापाठ में व्यस्त लोगों, न्यासियों आदि पर हाथ न उठाओ। और न पेड़-पौधों, फ़सलों आदि को नुक़सान ुंचाओ। अगर तुमने इन आदेशों की पाबन्दी न की तो फिर तुम्हारी यह जंग ल्लाह की राह में नहीं होगी। और जब फ़ितना व फ़साद मिट जाए तो अपना हाथ क लो।

मझौते की दरख़ास्त रद्द न की जाए

युद्ध के दौरान लड़नेवालों की आँखों में ख़ून उतरा हुआ होता है। प्रत्येक पक्ष हता है कि अपने दुश्मन को जड़-बुनियाद से ख़त्म कर दे। लेकिन मुसलमानों को म दिया गया है कि दुश्मन अगर समझौते की इच्छा ज़ाहिर करे तो उसे रद्द न या जाए, यहाँ तक कि अगर ठीक जंग के मैदान में भी यदि दुश्मन समझौते की ाकश करे तो उसे रद्द न करो। क़ुरआन ने स्पष्ट कहा है —

> "और ऐ नबी! अगर दुश्मन समझौते व सलामती की ओर झुके तो तुम भी उसके लिए तैयार हो जाओ और अल्लाह पर भरोसा करो।" (क़ुरआन, 8:61)

अर्थात् अगर जंग के दौरान दुश्मन अपना पहलू कमज़ोर देखकर सुलह मझौते) की दरख़ास्त करे तो तुम उसकी कमज़ोरी से ग़लत फ़ायदा न उठाओ और ; न सोचो कि अगर उसे अब छोड़ दिया तो वह शक्ति हासिल करके मुक़ाबले फिर आमादा हो जाएगा और तुम्हें नुक़सान पहुँचाएगा। बल्कि तुम्हें चाहिए कि झौता कर लो, उसकी दरख़ास्त रद्द न करो और भविष्य में अल्लाह पर भरोसा ो। क्योंकि —

"तुम्हारा काम उनसे बलपूर्वक बात मनवाना नहीं है।" (क़ुरआन, 50:45) और —

"उन्हें माफ़ करो और उनसे दरगुज़र करते रहो। अल्लाह उन लोगों को पसन्द करता है जो एहसान का तरीक़ा अपनाते हैं।"

(क़ुरआन, 5:13)

यह अत्यन्त शांतिप्रिय जंग का तरीक़ा है जिसकी शिक्षा मुसलमानों को दी है। इससे बदले की भावना से, हद से आगे बढ़कर, ज़ुल्म ढाने और फ़ितना फ़साद पैदा करने का रास्ता रोक दिया गया है। निजी स्वार्थ, किसी देश पर वि प्राप्त करने, किसी औरत को पाने, किसी व्यक्तिगत कलह और धन-सम्पति ख़ातिर नहीं बल्कि बुराई और अत्याचार के विरुद्ध जंग करने की अनुमति दी गई और इसी के साथ जंग के नियम स्पष्ट रूप से बता दिए गए हैं, ताकि जि करनेवाले नैतिक सीमा का उल्लंघन न करें।

इस्लामी युद्ध-विधान

इस्लामी युद्ध-विधान की कुछ धाराएँ ये हैं :

1. जंग के आरम्भ से पहले अनिवार्य है कि मुसलमान इस्लाम की दावत उन लो तक पहुँचा दें जिनको अब तक दावत न पहुँची हो। यदि इससे पहले उन जंग शुरू कर दी तो जितने लोग क़त्ल होंगे उनके ख़ून का बदला देना होगा
2. औरतों और बच्चों को, गिरजों में इबादत करनेवालों और मठों के संन्यासि को, बूढ़े लोगों, अपाहिजों और बीमारों को तथा उन लोगों को जिन्होंने जंग कोई हिस्सा नहीं लिया है — क़त्ल करना किसी हालत में जाइज़ (वैध) होगा।
3. ग़ुलामों और नौकरों, बीमार की देख-रेख करनेवालों और राजदूतों का क़ करना मना है।
4. धोखा देना और मारे गए लोगों के शवों पर क्रोध उतारने के लिए उ अंग-भंग करना मना है। इसी तरह किसी को ज़िन्दा जलाना, फलों को ख़

करना, खेतों को बरबाद कर देना, घरों को आग लगाना, या इनके अलावा और कोई अशोभनीय तथा जानलेवा हरकतें करना इस्लाम में जाइज़ नहीं।

5. पेड़ों को काटना और पानी में ज़हर मिलाना जाइज़ नहीं।

(अल-सियासतुल शरईयह बि-अहदिल वह्हाब अल-खिलाफ़ह, पृ॰ 89-90)

यह और इसी प्रकार की बहुत-सी पाशविक हरकतें दुनिया के युद्ध करनेवाले लोगों के विधान में वैध ही नहीं बल्कि ज़रूरी समझी जाती थीं। इसलिए अल्लाह के रसूल *(सल्ल॰)* ने सख़्ती के साथ लोगों को ऐसे सारे कामों से मना किया है और सिर्फ़ अल्लाह की राह में जंग करने की प्रेरणा दिलाई। इस बारे में सहीह मुस्लिम (हदीस) के शब्द ये हैं —

हज़रत अबू मूसा अशअरी *(रज़ि॰)* कहते हैं कि —

> "एक व्यक्ति अल्लाह के रसूल *(सल्ल॰)* के पास हाज़िर हुआ और बोला कि कोई व्यक्ति धन-सम्पत्ति हासिल करने के लिए जंग करता है, कोई ख्याति और नाम कमाने के लिए जंग करता है, और कोई अपनी बहादुरी दिखाने के लिए जंग करता है। बताइए कि इनमें से किसकी जंग खुदा की राह में है?
>
> हज़रत मुहम्मद *(सल्ल॰)* ने जवाब दिया कि खुदा की राह में की गई जंग तो सिर्फ़ उस व्यक्ति की है, जो सिर्फ़ अल्लाह का बोलबाला करने के लिए लड़े।" (मुस्लिम)

एक और मौक़े पर हज़रत उबादा बिन सामित *(रज़ि॰)* ने कहा कि एक बार अल्लाह के रसूल *(सल्ल॰)* ने फ़रमाया —

> "जो व्यक्ति खुदा की राह में लड़ने के लिए गया और सिर्फ़ एक ऊँट बाँधने की रस्सी हासिल करने की नीयत कर ली तो बस उसको वह रस्सी ही मिलेगी, सवाब कुछ न मिलेगा।"

हज़रत मआज़ बिन जबल *(रज़ि॰)* का कहना है कि आप *(सल्ल॰)* ने फ़रमाया—

> "लड़ाइयाँ दो प्रकार की हैं। जिस व्यक्ति ने साफ़ नीयत से अल्लाह

की प्रसन्नता के लिए लड़ाई की और उसमें अमीर का आदेश मानता रहा, अपना बेहतरीन माल ख़र्च किया और बिगाड़ से परहेज़ किया तो उसका सोना, जागना सब उसके लिए सवाब के साधन हुए, और जिसने दुनिया के दिखावे और नाम कमाने के लिए जंग की और उस अमीर का आदेश न माना और ज़मीन में बिगाड़ फैलाया वह बराबर-बराबर भी न छूटेगा (यानी उलटा अज़ाब में फँसेगा) ।''

इन हदीसों से इस बात पर रौशनी पड़ती है कि इस्लामी शिक्षा के अनुसा किसी भी दुनियावी मक़सद, नाम कमाने, माल व दौलत लूटने या व्यक्तिगत कल के लिए जंग करना जाइज़ नहीं है, बल्कि अगर कोई ऐसी नीयत से जंग करेगा उलटा उसको परलोक में यातना का मुँह देखना पड़ेगा, इसी लिए हज़रत मुहम्म *(सल्ल.)* जब किसी सेना को कहीं रवाना करते तो इन हिदायतों के साथ रवाना करते-

''ख़ुदा की राह में ख़ुदा ही का नाम लेकर लड़ना, ख़ियानत न करना, वादा ख़िलाफ़ी न करना, दुश्मन के हाथ, पाँव, नाक, कान न काटना, बच्चों को क़त्ल न करना ।''

एक दूसरी हदीस में फ़रमाया —

''आसानी पैदा करना, कठिनाई न पैदा करना, लोगों को सांत्वना दिलाना, जिन पर विजय पाना उनको भयभीत और असंतुष्ट न कर देना ।''

अबू दाऊद ने 'किताबुल जिहाद' में हज़रत मुहम्मद (सल्लल्लाहु अलैहि सल्लम) की एक यह हदीस नक़ल की है —

''अल्लाह का नाम लेकर और अल्लाह के रसूल *(सल्ल.)* के मज़हब के पाबंद होकर मैदाने-जंग में जाओ । बूढ़ों को, बच्चों को, लड़कों को और औरतों को हरगिज़ क़त्ल न करना । ख़ियानत न करना, पराजित सेना की छोड़ी हुई युद्ध-सामग्री को सहमत होकर जमा करना । सुधार व उपकार करना । अल्लाह उपकार और भला कार्य करनेवालों से ही प्रेम करता है ।'' (अबू दाऊद, किताबुल-जिहाद)

बाहकारी का विरोध

आक्रमणकारी फ़ौजों का हमेशा यह आचरण रहा है कि वे लड़ाई में बढ़त पाते मय फ़सलों को ख़राब करतीं, खेतों को तबाह करतीं, बस्तियों में बूढ़ों, बच्चों और ौरतों का नरसंहार करतीं और यह आम सोच थी कि ऐसा करने से हमारा दबदबा र तरफ़ छा जाएगा, मगर इस्लाम इसको बिगाड़ और उपद्रव कहता है और सख़्ती ह साथ इसे नाजाइज़ ठहराता है। क़ुरआन में एक अधर्मी के बारे में आया है—

> "जब वह दुश्मन पर क़ाबू पा लेता है तो कोशिश करता है कि ज़मीन में फ़साद फैलाए, फ़सलों और नस्लों को बरबाद करे। मगर अल्लाह फ़साद को पसंद नहीं करता।" (क़ुरआन, 2:205)

लाश के अंग-भंग करने पर रोक

तबाही और विनाश के निषेध के साथ-साथ इस्लाम ने दुश्मन की लाशों का अनादर करने और उनके अंगों को छिन्न-भिन्न करने को भी सख़्ती से मना किया है। अब्दुल्लाह बिन यज़ीद अंसारी *(रज़ि)* उल्लेख करते हैं कि —

> "नबी *(सल्ल.)* ने लूट के माल और लाश के अंगों को काटने से मना किया है।"

मक्का-विजय के अवसर पर हज़रत मुहम्मद *(सल्ल.)* जब शहर में दाख़िल होने लगे तो उन्होंने फ़ौज में एलान करा दिया कि —

> "किसी घायल पर हमला न किया जाए, किसी भागनेवाले का पीछा न किया जाए, किसी क़ैदी को क़त्ल न किया जाए, और जो अपने घर का दरवाज़ा बंद कर ले, वह हमारी ओर से सुरक्षित है।"
> (तारीख़े इस्लाम)

यह नैतिक नियम था, जिसे लेकर इस्लामी फ़ौजें आगे बढ़ती थीं और उसकी पाबंदी की पूरी कोशिश करती थीं। पूरे इस्लामी इतिहास में एक मिसाल भी ऐसी नहीं मिलती कि जब किसी मुजाहिद ने किसी को पराजित करके हाथ-पैर या नाक-कान काटे हों या बेदर्दी से क़त्ल किया हो, या किसी को जलाया हो, बल्कि

ऐसा भी हुआ है कि क़ाबू में आए हुए दुश्मन को इसलिए छोड़ दिया गया वि उसकी किसी हरकत पर ग़ुस्सा आ गया और अपने ग़ुस्से की हालत में उसे मारन अच्छा नहीं समझा गया। यह घटना, जिसकी तरफ़ इशारा किया गया, यह है —

"किसी लड़ाई में हज़रत अली *(रज़ि॰)* ने किसी दुश्मन को पछाड़ा और चाहा कि ख़ंजर निकालकर उसका क़त्ल कर दें, तभी उसने हज़रत अली *(रज़ि॰)* के चेहरे पर थूक दिया। आप *(रज़ि॰)* इस हरकत के बाद तुरंत उसके सीने के ऊपर से उतर आए और क़त्ल करने से रुक गए। उसको बड़ा आश्चर्य हुआ कि अभी इतनी देर में क्या बात हुई कि अपना इरादा बदल दिया। उससे रहा न गया और आपसे उसकी वजह पूछी। हज़रत अली *(रज़ि॰)* ने जवाब दिया कि पहले मैं तुम्हें अल्लाह की राह में क़त्ल करना चाहता था, मगर तुम्हारे इस तरह थूकने पर मुझे ग़ुस्सा आ गया। मैं ग़ुस्से की हालत में तुम्हें मारना नहीं चाहता था, क्योंकि मेरी तुम्हारी कोई व्यक्तिगत दुश्मनी नहीं है। आपकी यह बात सुनकर दुश्मन के दिल पर बड़ा असर हुआ, वह उसी वक़्त मुसलमान हो गया।" (तारीख़े इस्लाम)

जंगे बद्र की मिसाल

इसी सिलसिले में 'जंगे बद्र' की मिसाल भी पेश की जा सकती है, जबकि मुसलमानों को पूरा ग़लबा हासिल था उन लोगों पर जिनके द्वारा वे वर्षों सताए गए थे, घर से बेघर किए गए थे और वे अभी तक उनके दुश्मन थे। स्वाभाविक तौर पर मुसलमानों के दिलों में ग़ुस्सा था और होना भी चाहिए था। अतः हज़रत मुहम्मद *(सल्ल॰)* ने बद्र के क़ैदियों के बारे में जब अपने साथियों से सलाह मशविरा किया तो हज़रत उमर *(रज़ि॰)* ने फ़रमाया कि उनको क़त्ल कर देना चाहिए, क्योंकि ये अल्लाह और उसके रसूल *(सल्ल॰)* के दुश्मन हैं। किसी ने ग़ुस्से और क्रोध के आवेश में राय दी कि सबको मौत के घाट उतार देना चाहिए। लेकिन हज़रत अबू बक्र सिद्दीक़ *(रज़ि॰)* ने, जो बहुत ही नर्म दिल थे, फ़रमाया कि फ़िद्या (अर्थ-दण्ड) लेकर

ड़ दिया जाए। प्यारे रसूल *(सल्ल॰)* ने उन्हीं के मशविरे पर अमल किया, हालाँकि
: फ़ैसला आम मुल्की हालात और उस ज़माने की रीति के ख़िलाफ़ था और फिर
ा जंग में अनेक बड़े सहाबी *(रज़ि॰)* भी शहीद हो गए थे, जिनका आप *(सल्ल॰)* को
ुद रंज व ग़म था, लेकिन इसके बावजूद भी क़ैदियों के साथ बड़ा ही अच्छा
वहार किया और उन्हें मुक्त कर दिया।

ज़रत उमर *(रज़ि॰)* का क़ातिल और हज़रत अब्दुल्लाह बिन मर *(रज़ि॰)*

- मुसलमानों के दूसरे बड़े ख़लीफ़ा (रसूल के उत्तराधिकारी) हज़रत उमर *(रज़ि॰)* एक पारसी के हाथ से शहीद हुए। मगर उसका बदला पूरी क़ौम से लेना तो दूर की बात थी, बल्कि जब ख़ुद शहीद ख़लीफ़ा के बेटे हज़रत अब्दुल्लाह बिन उमर *(रज़ि॰)* ने जोश में आकर एक पारसी को क़त्ल कर दिया तो इस्लामी हुकूमत ख़ुद उन्हीं से क़िसास (ख़ून का बदला) लेने के लिए तैयार हो जाती है। उनपर मुक़द्दमा चलाया जाता है, और उनको ख़ून का बदला अदा करना पड़ता है।

इस घटना से साफ़ ज़ाहिर है कि ज़िम्मी (ग़ैर मुस्लिम) के ख़ून की क़ीमत सलमान के ख़ून के बराबर है। अगर मुसलमान के क़त्ल पर धन के रूप में बदला ना वाजिब है, तो ज़िम्मी को क़त्ल करने पर भी ख़ून का बदला अदा करना होगा, बकि क़त्ल किए जानेवाले का वारिस धन के रूप में बदला लेकर माफ़ करने पर ामादा हो। वरना जो फ़ैसला अदालत से होगा, उसपर अमल किया जाएगा।

इस्लाम की यह पवित्र शिक्षा है जिसपर पहले दिन से अमल होता रहा, जिसके बूत के लिए इतिहास में इतनी अधिक मिसालें मौजूद हैं कि अगर वे सब की सब निया के सामने लाई जाएँ तो इन्हें एक दफ़्तर भी समेट नहीं सकेगा। फिर भी क्षेप में कुछ ख़ास-ख़ास शीर्षकों के तहत यह बताने की कोशिश की जाएगी कि स्लामी शासन काल के दौर में ग़ैर-मुस्लिम जनता के साथ किस प्रकार का व्यवहार कया गया।

धार्मिक स्वतंत्रता

पिछले अध्यायों में अनेक क़ौमों के हालात पेश किए गए हैं, जिनसे साफ़ पता चलता है कि एक सत्तारूढ़ गिरोह अधीन गिरोह के साथ किस तरह पेश आता था। ताक़तवर के मुक़ाबले में कमज़ोर का न कोई आदर था, न सम्मान; न उसको राय की आज़ादी थी, न धर्म की। लेकिन इसके विपरीत इस्लाम का दृष्टिकोण सर्वथा भिन्न है।

धार्मिक स्वतंत्रता के निर्देश

- प्रत्येक व्यक्ति प्राकृतिक रूप से आज़ाद है, जो आस्था व धर्म चाहे अपना सकता है क्योंकि —

  "दीन में ज़ोर-ज़बरदस्ती नहीं है।" (क़ुरआन, 2:256)

यानी, हर व्यक्ति अपने अक़ीदे, और सोच-विचार के मुताबिक़ जिस धर्म पर चाहे चल सकता है और उसके अनुसार इबादत व उपासना कर सकता है, और अपनी आस्था व दृष्टिकोण का एलान और प्रदर्शन भी कर सकता है।

- तमाम इनसान अल्लाह के बन्दे, उसकी सृष्टि (मख़लूक़) और एक परिवार हैं। इसलिए हर व्यक्ति को ज़िन्दा रहने, उन्नति करने और तमाम वैध संसाधनों व स्रोतों से काम लेकर लाभ उठाने का पूरा-पूरा अधिकार प्राप्त है।
- सभी लोग एक ही माँ-बाप, आदम-हव्वा की नस्ल से हैं। इसलिए सभी एक-दूसरे के भाई हैं।
- ख़ुदा ने इनसान को ज्ञान और चिंतन की जो योग्यता प्रदान की है उससे दुनिया

में भलाइयों के करने और बुराइयों को मिटाने का काम लेना मोमिन का सबसे पहला कर्त्तव्य है।

- हर एक की जान, माल, इज़्ज़त व आबरू की समान रूप से रक्षा व आदर किया जाए, चाहे कोई किसी नस्ल से संबंध रखता हो—

> "और (ऐ मुसलमानो!,) ये लोग अल्लाह के सिवा जिनको पुकारते हैं, उन्हें अपशब्द न कहो।" (कुरआन, 6:108)

मतलब यह है कि तुम उन लोगों के उपास्यों को बुरा-भला न कहो।

इन्हीं स्पष्ट निर्देशों व आदेशों का नतीजा था कि कुछ अपवादों को छोड़कर मुसलमानों ने हमेशा ग़ैर-मुस्लिमों के साथ निहायत उदारता और विशाल हृदयता का व्यवहार किया, चाहे वे किसी जगह विजयी की हैसियत से गए या शासक की हैसियत से। उन्होंने ग़ैर-मुस्लिम जनता के धार्मिक अधिकारों की रक्षा की, उनके साथ उदारता से पेश आए और उनकी आस्था व उनके धार्मिक चिह्नों का सम्मान किया, उनकी इबादतगाहों को हर प्रकार के नुक़सान से बचाया। इसकी सबसे अच्छी मिसाल अल्लाह के रसूल *(सल्ल॰)* का अमल और वे समझौते हैं जो आप *(सल्ल॰)* ने ग़ैर-मुस्लिमों के साथ किए, जिनकी ओर इशारा इस्लाम के एक बड़े विद्वान अल्लामा शिबली नोमानी ने इन शब्दों में किया है —

ग़ैर-मुस्लिमों के साथ समझौते में अपनाए गए नियम

1. कोई दुश्मन उनपर हमला करेगा तो उनकी रक्षा की जाएगी।
2. उनको उनके धर्म से नहीं फेरा जाएगा।
3. उनसे जो कर (Tax) लिया जाएगा, उसके लिए उनको कर वसूल करनेवाले के पास खुद नहीं जाना पड़ेगा।
4. उनकी जानों की रक्षा की जाएगी।
5. उनकी सम्पत्ति सुरक्षित रहेगी।
6. उनके क़ाफ़िले और उनका व्यापार सुरक्षित रहेगा।

7. उनकी भूमि उनके क़ब्ज़े में रहेगी ।

8. जो चीज़ें उनकी मिल्कियत में हैं उनको बहाल रखा जाएगा ।

9. पादरी, संत और गिरजों के पुजारी अपने पदों से हटाए नहीं जाएँगे ।

10. सलीबों और औरतों को नुक़सान नहीं पहुँचाया जाएगा ।

11. उनसे ग़ल्ले की पैदावार का दसवाँ भाग (उश्र) नहीं लिया जाएगा । (जो मुसलमानों से लिया जाता है) ।

12. उनके देश में फ़ौज नहीं भेजी जाएगी ।

13. उनके धर्म और उनकी आस्था में कोई परिवर्तन नहीं कराया जाएगा ।

14. यदि कोई अधिकार पहले उन्हें प्राप्त था, उसे रद्द नहीं किया जाएगा ।

15. जो लोग इस समय उपस्थित नहीं इन निर्देशों में वे भी शामिल होंगे ।

(मक़ालाते शिबली, भाग - 1, पृ॰197)

ऊपर लिखी शर्तें जो उन समझौतों में उल्लिखित हैं, जो अल्लाह के रसूल *(सल्ल॰)* ने ग़ैर-मुस्लिमों के साथ किए — धार्मिक उदारता का ऐसा ऐतिहासिक प्रमाण हैं, जिसकी उस ज़माने में कल्पना भी नहीं की जा सकती थी । आज भी जबकि सभ्यता और शिष्टाचार अपने विकास के उच्च शिखर पर हैं कोई विजेता क़ौम किसी हारी हुई क़ौम के धार्मिक अधिकारों को ऐसी विशाल ह्रदयता के साथ तस्लीम नहीं करती । अपने दुश्मनों के साथ जो उदारता और दानशीलता का सुलूक पैग़म्बर हज़रत मुहम्मद *(सल्ल॰)* ने किया वह अपनी मिसाल आप है ।

नजरान के ईसाई और अल्लाह के रसूल *(सल्ल॰)*

सन् 9 हिजरी में नजरान के ईसाइयों का वफ़्द (प्रतिनिधिमंडल) मदीना आया तो पैग़म्बर *(सल्ल॰)* ने उन्हें अपने तौर पर अपनी रस्में व इबादत अदा करने की 'मस्जिद नबवी' में ही अनुमति दे दी और फिर वह समझौता किया जिसको देखकर सर म्यूर जैसा भेद-भाव रखनेवाला व्यक्ति भी सराहे बग़ैर न रह सका । वह आप *(सल्ल॰)* की उदारता और विशाल ह्रदयता की तारीफ़ करता है —

सर म्यूर का सम्माननीय बयान

"पैग़म्बर ने बिशपों, पादरियों और राहिबों को यह तहरीर दी कि उनके गिरजाओं और ख़ानक़ाहों में हर छोटी-बड़ी जैसी चीज़ थी वैसी ही बरक़रार रहेगी । अल्लाह के रसूल *(सल्ल.)* ने यह वादा किया कि कोई बिशप अपने ओहदे से और न कोई राहिब अपनी ख़ानक़ाह से और न कोई पादरी अपने पद से हटाया जाएगा और न उनके स्वामित्व, अधिकारों और नियमों में किसी प्रकार का परिर्वतन किया जाएगा । जब वे शांति व समझौते और सच्चाई के साथ रहें, उनपर अत्याचार व जब्र न किया जाए, न वे किसी पर ज़ुल्म व अत्याचार करें ।"

(Life of Mohammad, p.158)

इतिहासकार मिस्टर जैसन की राय

इतिहास के एक ज्ञाता मिस्टर जैसन, जो एक बेबाक इतिहासकार हैं और जिन्होंने मौजूदा दौर के तमाम ईसाई तथा मुस्लिम इतिहासकारों के लेखों का गहन और आलोचनात्मक अध्ययन किया है, लिखते हैं —

"आप पैग़म्बर *(सल्ल.)* ने निहायत विशाल हृदयता के साथ इस्लामी देशों में आबाद ईसाइयों की जान, उनका व्यापार, उनके माल व संसाधनों और धार्मिक क्रिया-कलापों की अदायगी और हर प्रकार की सुरक्षा की ज़मानत दे दी थी और उदारता के इस उसूल पर न सिर्फ़ आपके सच्चे ख़लीफ़ाओं (उत्तराधिकारियों) ने पूरी सख़्ती से अमल किया था, बल्कि तमाम अरब हुक्मराँ भी उदारता के इस उसूल पर अमल करते रहे ।

इस्लाम और मुसलमानों के विकास का इतिहास उदारता और बेतअस्सुबी (पक्षपात रहित) और उनकी उच्च शिक्षाओं को उजागर करने का इतिहास है । उस दौर के मुसलमानों की सल्तनतें पीड़ित यहूदियों और नस्तूरी, याक़ूबी और दूसरी आस्थाएँ रखनेवाले ईसाइयों की पनाहगाह थीं । वे मुसलमानों की धार्मिक आस्थाओं से विभेद रखते थे, इसके बावजूद उन्हें मुस्लिम देशों में पनाह लेने की खुली

आज़ादी थी, बल्कि उन्हें धार्मिक कर्त्तव्यों को पूरा करने की और अपने उपासनागृहों के निर्माण की भी स्वतंत्रता प्राप्त थी।''

(दावत, दिल्ली, 13 सितम्बर, सन् 1983 ई०)

एक और अंग्रेज़ लेखक की राय

''स्पिरिट आफ़ इस्लाम'' (Spirit of Islam) का लेखक हज़रत मुहम्मद (सल्लल्लाहु अलैहि व सल्लम) की प्रदत्त रिआयतों के सिलसिले में टिप्पणी करते हुए लिखता है, जिसका उल्लेख मिस्टर चुन्नी लाल आनन्द, एम० ए० ने अपने व्याख्यान में किया था, जो उन्होंने 'मार्टिन हिस्टारिकल सोसायटी' में सन् 1924 ई० में ''मुग़लों के मातहत धार्मिक कट्टरता की कहानी'' के शीर्षक से पढ़ा था :

> ''अल्लाह के रसूल *(सल्ल०)* ने ईसाइयों को ऐसी रिआयतें प्रदान कीं जो उन्हें अपने धर्म के बादशाहों के शासनाधीन भी प्राप्त नहीं थीं। आपने एलान किया कि अगर कोई मुसलमान उन आदेशों का उल्लंघन करेगा तो उसे अल्लाह के हुक्मों का उल्लंघन करनेवाला और अपने धर्म की बेइज़्ज़ती और अपमान करनेवाला समझा जाएगा। आपने ख़ुद यही वादा किया और अपने अनुयायियों को आदेश दिया कि वे ईसाइयों और दूसरे ग़ैर-मुस्लिमों को पनाह दें और यहूदियों के मकानों की रक्षा करें। उन्हें हर क़िस्म के नुक़सान से बचाएँ और यह भी हुक्म दिया कि उनपर अनुचित कर (Tax) न लगाए जाएँ। किसी बिशप को बिशपख़ाने से न निकाला जाए, न किसी दर्शनार्थी को दर्शन करने से रोका जाए और न मस्जिदें और मुसलमानों के मकान तामीर करने के लिए ईसाइयों के गिरजों को ध्वस्त किया जाए। जो ईसाई औरतें मुसलमानों से शादी कर लें उन्हें अपने धर्म पर क़ायम रहने दिया जाए और किसी प्रकार ज़ोर-ज़बरदस्ती न की जाए। अगर ईसाइयों को अपने गिरजों और ख़ानक़ाहों की मरम्मत की ज़रूरत हो या उनके धर्म-सम्बन्धी किसी अन्य मामले में सहायता की ज़रूरत हो तो मुसलमानों को उन्हें मदद देनी चाहिए।''

पत्रिका 'विशाल भारत' की स्वीकारोक्ति

हमारे देश के एक बड़े हिन्दू विद्वान श्री सुन्दर लाल जी ने अपने एक लेख 'हुज़ूर *(सल्ल.)* की लाइफ़' में, जो कोलकाता की हिन्दी पत्रिका 'विशाल भारत' में प्रकाशित हुआ था, नबी *(सल्ल.)* की धार्मिक उदारता और विशाल हृदयता को इन शब्दों में स्वीकार करते हुए कहा था —

> " .... शासक की हैसियत से मुहम्मद साहब ने ग़ैर-मुस्लिमों को, यहाँ तक कि मूर्तिपूजकों को भी, अपनी हुकूमत के अन्दर रहकर अपनी धार्मिक रस्मों को अदा करने की पूरी-पूरी स्वतंत्रता प्रदान की और उनके उपासनागृहों की रक्षा करना हर मुसलमान की ज़िम्मेदारी ठहराया। 'ला इकरा-ह फ़िद्दीन' यानी धर्म के बारे में कोई ज़बरदस्ती नहीं होनी चाहिए। कुरआन की यह आयत मदीना में अवतरित हुई है और मुहम्मद साहब की तमाम ज़िन्दगी इस आयत की जीती-जागती तस्वीर है। इसके सुबूत में ईसाइयों, यहूदियों और अन्य धर्म के अनुयायियों के साथ यदा-कदा मुहम्मद साहब के जो समझौते व संधि हुईं उनकी नक़लें अभी तक मौजूद हैं।"

('विशाल भारत' कोलकाता, नवम्बर, सन् 1933 ई॰, पृ॰ 514)

सर मेयर और दूसरे अंग्रेज़ इतिहासकारों के उपर्युक्त बयान इस बात का खुला सुबूत है कि नबी के दौर में अन्य धर्म के माननेवालों को हर प्रकार की आज़ादी हासिल थी। वे अपने-अपने तरीक़े पर इबादत कर सकते थे। अपने तौर पर अपनी रस्मों को अदा कर सकते थे, हालाँकि इस्लाम से पूर्व पराजित लोगों को धार्मिक रस्मों की अदायगी तो दूर की बात, मुँह से आह करने की इजाज़त भी नहीं दी जाती थी। बैतुल मक़दिस पर जब बख़्त नस्र टैटिस और खुसरू परवेज़ वग़ैरा ने हमले किए थे, तो इबादतगहों और उपासना-गृहों के साथ तमाम धार्मिक किताबें भी जला दी गई थीं, और हुक्म दे दिया गया था कि जो व्यक्ति यहूदी या ईसाई तरीक़े पर इबादत करता हुआ पाया जाए, उसका सिर क़लम कर दिया जाए। अत: हिन्दुस्तान के प्रसिद्ध चिंतक और इतिहासकार मिस्टर एम॰ एन॰ राय अपने एक अंग्रेज़ी लेख में ईसाइयों के बैतुल मक़दिस में विजयपूर्ण दाख़िले पर टिप्पणी करते हुए लिखते हैं —

''यरूशलम ईसाइयों के एक पवित्र गृह और दर्शन-स्थल की हैसियत रखता है । मुसलमान अगर पक्षपाती और संकीर्णदृष्टि होते तो इसका नतीजा यह होना चाहिए था कि वे यूरोप और अफ़्रीक़ा के ईसाइयों को वहाँ जाने से बिलकुल रोक देते, लेकिन ऐसा नहीं किया गया, बल्कि उस ज़माने का इतिहास पढ़ने से मालूम होता है कि वहाँ ईसाई दर्शकों की तादाद बहुत-बढ़ गई थी, और मुसलमान उनके आराम और सुरक्षा का बहुत ख़याल रखते थे । लेकिन जब लगभग छः सौ साल के बाद यरूशलम पर कुछ अवधि के लिए दोबारा यूरोपी ईसाइयों का क़ब्ज़ा हुआ तो 'डिक्लाइन ऑफ़ रोमन एम्पायर' के पृष्ठों की गवाही यह है कि यरूशलम को जीतने के बाद ईसाइयत के ध्वजावाहकों और सलीबी जंगबाज़ों के बीच यह समझौता हो गया था कि जनता और हुकूमत की दौलत लूटते हुए जो व्यक्ति भी जिस चीज़ पर पहले क़ब्ज़ा करेगा वह चीज़ उसकी मिल्कियत समझी जाएगी । और कोई दूसरा शख़्स उसको छीनने की कोशिश नहीं करेगा । यानी लूट-मार की खुली आज़ादी दे दी गई । इसके अलावा उन गुमराह विजयी लोगों ने अपने आसमानी बाप को खुश करने के लिए इनसानों की बलि चढ़ाई थी और उसमें उम्र और लिंग का कोई विचार नहीं रखा था । वे तीन दिन तक इसी पाशविक हत्या और रक्तपात में लगातार व्यस्त रहे और 70 हज़ार मुसलमानों को क़त्ल कर डाला । इसके साथ ही बेगुनाह हज़ारों यहूदियों को उनकी इबादतगाहों में ज़िन्दा जलाने के बाद जो हज़ारों लोग बाक़ी रह गए थे उनको उन्होंने गुलाम बना लिया था । जब हम उन लोगों के चरित्र से मुसलमानों के चरित्र की तुलना करते हैं तो हमारे दिलों में मुसलमानों की उदारता, निरपेक्षता, शांतिप्रियता और क़ौमी शराफ़त का एहसास और भी बढ़ जाता है ।''
('दावत' दिल्ली 13 सितंबर 1983 से उद्धृत)

वास्तविकता यह है कि इस्लाम का इतिहास धार्मिक उदारता और आपसी मेल-मिलाप-प्रियता का इतिहास है जिसने अपने दुश्मनों तक को इजाज़त दी है कि तुम धार्मिक मामलों में आज़ाद हो, सोच लो, समझ लो — दिल चाहे तो इस्लाम क़बूल करो, दिल न चाहे तो कोई ज़ोर या ज़बरदस्ती नहीं है ।

सफ़वान बिन उमैया का वाक़िआ

इस सिलसिले में सफ़वान बिन उमैया बिन ख़ल्फ़ का वाक़िआ काफ़ी स्पष्ट है। यह इस्लाम का बड़ा दुश्मन था और अपनी चालबाज़ियों से हमेशा मुसलमानों को नुक़सान पहुँचाता रहा था। मक्का की फ़त्ह में नबी *(सल्ल.)* ने आम माफ़ी का एलान फ़रमा दिया था। मगर यह उन बारह लोगों में से एक था जिनके क़त्ल का हुक्म दे दिया गया था। क्योंकि इसने हज़रत ख़ालिद *(रज़ि.)* के लश्कर पर हमला करके अमन को जंग से बदलने की कोशिश की थी। उसे जब सफलता न मिली तो फ़रार हो गया। कुछ सहाबा *(रज़ि.)* की सिफ़ारिश पर उसे माफ़ कर दिया गया। जब उससे इस्लाम के बारे में कहा गया तो उसने दो माह की मुहलत माँगी तो दया-सागर हज़रत मुहम्मद *(सल्ल.)* ने फ़रमाया : दो माह नहीं बल्कि चार माह सोच लो, कोई ज़ोर-ज़बरदस्ती नहीं है।

सुमामा बिन उसाल का वाक़िआ

इसी तरह की उदारता का एक वाक़िआ हज़रत अबू हुरैरह *(रज़ि.)* से उल्लिखित है कि एक बार हजरत मुहम्मद *(सल्ल.)* ने नज्द की ओर एक लश्कर रवाना किया। वह वापस आया तो क़बीला बनू-हनीफ़ा के एक व्यक्ति को, जिसका नाम सुमामा-बिन-उसाल था, अपने साथ गिरफ़्तार करके लाया। सुमामा, यमामा के निवासियों का, सरदार था। सहाबा *(रज़ि.)* ने उसको एक खंभे से बाँध दिया। नबी *(सल्ल.)* बाहर तशरीफ़ लाए तो सुमामा को देखकर फ़रमाने लगे— "सुमामा बोल, तेरे पास क्या है?" उसने कहा, "ऐ मुहम्मद, आपको अधिकार है, अगर आप क़त्ल करेंगे तो एक ऐसे व्यक्ति को क़त्ल करेंगे जो क़त्ल किए जाने का मुजरिम है। और अगर आप एहसान करेंगे तो ऐसे व्यक्ति के साथ एहसान करेंगे, जो आपका शुक्रगुज़ार रहेगा। इसके अलावा अगर आप माल चाहते हों तो कहिए, जितना माल आप माँगें दे दिया जाएगा। "हज़रत मुहम्मद *(सल्ल.)* ने हुक्म दिया था, "सुमामा को रिहा कर दिया जाए।" बद्र की लड़ाई में क़ैद किए गए लोगों में सुहैल बिन उमर भी शामिल था, जो बड़ी उम्दा ज़बान जानता था। वह नबी *(सल्ल.)* के ख़िलाफ़ ज़हरीली तक़रीरें किया करता था। हज़रत उमर *(रज़ि.)* ने मशविरा दिया कि —

इसके दाँत तोड़ दिए जाएँ ।'' मगर आप *(सल्ल.)* ने फ़रमाया कि — ''अगर मैं सका अंग-भंग करूँगा तो अल्लाह मेरा अंग-भंग करेगा ।'' कुछ समय तक क़ैद खने के बाद हज़रत मुहम्मद *(सल्ल.)* ने अंत में फ़िद्या (अर्थ-दण्ड) लेकर सब दियों के साथ उसे भी रिहा कर दिया ।

ूटमार पर रोक

ख़ैबर की जंग में समझौता हो जाने के बाद जब इस्लामी फ़ौज के कुछ नए सपाही बेक़ाबू हो गए और उन्होंने लूटमार शुरू कर दी, तो यहूदियों का सरदार अल्लाह के रसूल *(सल्ल.)* के पास आया और कड़े शब्दों में आप *(सल्ल.)* को ख़िताब करके बोला —''ऐ मुहम्मद! क्या तुमको शोभा देता है कि हमारे गधों का वध करो, हमारे फल खा जाओ और हमारी औरतों को मारो?''

इस पर अल्लाह के रसूल *(सल्ल.)* ने तत्काल इब्ने औफ़ को हुक्म दिया कि ''इज्तमक़ लिस्सलात ।'' यानी नमाज़ के लिए जमा होने की मुनादी करें । जब लश्कर के लोग जमा हो गए तो नबी *(सल्ल.)* खड़े हुए और फ़रमाया —

> ''क्या तुम में कोई व्यक्ति गर्व के सिंहासन पर बैठा यह समझ रहा है कि अल्लाह ने सिवाए उन चीज़ों के जो क़ुरआन में हराम की गई हैं कोई और चीज़ हराम नहीं की । खुदा की क़सम, मैं जो कुछ तुमको नसीहत करता हूँ और जो करने, न करने के आदेश देता हूँ वे क़ुरआन की तरह या उससे अधिक हैं । अल्लाह ने तुम्हारे लिए यह जाइज़ नहीं किया है कि किताबवालों के घरों में बिना इजाज़त घुस जाओ । उनकी औरतों को मारो-पीटो और उनके फल खा जाओ, हालाँकि उनपर जो कुछ वाजिब था वह तुम्हें दे चुके ।''
>
> (अल-जिहाद फ़िल-इस्लाम, पृ. 226)

- एक बार जिहाद के सफ़र में लश्करवालों ने कुछ बकरियाँ पकड़ लीं और उनका गोश्त पकाकर खाना चाहा । नबी *(सल्ल.)* को ख़बर हुई तो आप *(सल्ल.)* ने आकर देग्चियाँ उलट दीं और फ़रमाया — ''लूट-खसोट का माल मुर्दार (शव) से बेहतर नहीं है ।''

हज़रत मुहम्मद *(सल्ल॰)* के प्यारे साथियों का आचार-व्यवहार

इसी शिक्षा का प्रभाव था कि हज़रत मुहम्मद *(सल्ल॰)* द्वारा प्रशिक्षित, आप साथियों (सहाबा) ने ग़ैर क़ौमों के साथ अच्छे व्यवहार का तरीक़ा अपनाया। हारी हु क़ौम से नर्मी का बर्ताव किया और अपने अधीनों को बहुत ज़्यादा अधिकार दिए अतः पहले ख़लीफ़ा हज़रत अबू बक्र *(रज़ि॰)* ने जब 'शाम' (सीरिया) की ओर फ़ौ भेजीं, तो उनको दस निर्देश दिए थे जिनको तमाम इतिहासकारों और ह़दीस वे ज्ञाताओं ने नक़ल किया है। वे निर्देश ये हैं —

1. औरतें, बच्चे और बूढ़े क़त्ल न किए जाएँ।
2. किसी का अंग-भंग न किया जाए।
3. राहिबों और इबादत में व्यस्त लोगों को न सताया जाए, न उनके उपासना-गृह ध्वस्त किए जाएँ।
4. कोई फलदार पेड़ न काटा जाए, न खेतियाँ जलाई जाएँ।
5. आबादियाँ वीरान न की जाएँ।
6. जानवरों का वध न किया जाए।
7. वचन-भंग से हर हाल में परहेज़ किया जाए।
8. जो लोग आज्ञापालन करें, उनकी जान व माल का वैसा ही सम्मान किया जाए, जैसा कि मुसलमानों की जान व माल का सम्मान किया जाता है।
9. माले ग़नीमत (युद्ध में प्राप्त सामान) में ख़ियानत (ग़बन) न की जाए।
10. जंग में पीठ न फेरी जाए।

इन हिदायतों के अध्ययन से मालूम होता है कि इस्लाम ने पुराने ज़माने की लड़ाइयों के पाशविक ढंग को बदलकर इनसानियत के सम्मान की बुनियाद डाली। बच्चों, बूढ़ों और औरतों और दूसरे धर्मों के उपासनागृहों को पनाह का चार्टर प्रदान किया। इसी लिए जब यरूशलम फ़त्ह हुआ तो वहाँ के ग़ैर-मुस्लिमों के सिलसिले में एक अह्दनामा (वचनपत्र) तैयार किया गया। उसके लेखों से अंदाज़ा लगाया जा

कता है कि मुसलमानों ने विजयी की हैसियत से अपनी पराजित और अधीन क़ौम ; साथ किस प्रकार का सुलूक जारी रखा ।

> "यरूशलम की ग़ैर-मुस्लिम जनता को उनकी जान व माल, औलाद और इबादतगाहों, सलीबों और हर उस चीज़ की जो उनकी मिल्कियत में है, हिफ़ाज़त की ज़मानत दी जाती है । उनकी ज़मीनों और उनके मज़हब में किसी प्रकार का हस्तक्षेप न किया जाएगा । उनके कलीसाओं को न तो ध्वस्त किया जाएगा और न किसी और प्रकार का नुक़सान पहुँचाया जाएगा । उनके औक़ाफ़ और उनके स्वाभिमान को यथावत् रखा जाएगा । यरूशलमवालों को अपने मज़हब की पाबंदी में हर प्रकार की आज़ादी होगी और उनपर किसी प्रकार का ज़ुल्म और अत्याचार नहीं किया जाएगा ।" (THE ECLIPES OF CHRISTIANITY IN ASIA, BY LAURANCE E. BROWN, P-39)

हज़रत उमर *(रज़ि०)* की बुद्धिमत्ता

इस सिलसिले में यह क़िस्सा भी मशहूर है कि यरूशलम की विजय के बाद हज़रत उमर *(रज़ि०)* जब गिरजे का अवलोकन कर रहे थे, तो वहीं नमाज़ का वक़्त हो गया । बतरीक़ ने कहा कि आप यहीं नमाज़ अदा कर लें, लेकिन आपने गिरजा में नमाज़ पढ़ने से सिर्फ़ इसलिए इनकार कर दिया कि कहीं बाद के मुसलमान हज़रत उमर *(रज़ि०)* की पैरवी में इस गिरजा को मस्जिद में परिवर्तित न कर दें ।

धार्मिक उदारता का यह अमल दूरदर्शिता की ऐसी मिसाल है, जिसने विश्व इतिहास की लुटी हुई इज़्ज़त को वापस लाने में श्रेष्ठतम काम किया है, वरना उससे पहले धार्मिक भेद-भाव दुनिया की क़ौमों में पागलपन की हद तक पहुँचा हुआ था । जैसा कि मौलाना अबुल कलाम आज़ाद ने अपने एक लेख में संकेत किए हैं कि जब विजेता लोग किसी पराजित देश में दाख़िल होते हैं तो कैसे-कैसे अत्याचार करते हैं । मौलाना फ़रमाते हैं —

> "सिकन्दर यूनानी ने ईरान का चप्पा-चप्पा जला दिया । ईरानियों ने बाबिल में दाख़िल होकर ख़ून की बाढ़, लाशों के ढेर और ध्वस्त-मकानों के खण्डहर अपनी यादगार छोड़े और टेट्स की विजयी फ़ौज जब यरूशलम में दाख़िल

हुई तो वह इनसानों का दाख़िला न था, बल्कि जंगल के दरिंदों और का
नागों का झुण्ड था, जिसने सिर्फ़ चीरा-फ़ाड़ा और ज़िन्दगी और आबादी
लिए एक कोना भी न छोड़ा ।''

(मज़ामीने अल-हिलाल, पृ.-195, लेख : फ़ातिहीन का दाख़िला मफ़्तूहा मुल्क

• इतिहासकार अवगत हैं कि हज़रत उमर *(रज़ि०)* के काल में मिस्र की अने
जगहों पर हज़ारों क़िब्ती गिरफ़्तार हुए थे । उनके संबंध में राजदरबार से हुक्म आ
कि उनको अधिकार दिया जाए कि वे चाहे ईसाई रहें या इस्लाम क़बूल कर लें
हज़रत अम्र बिन आस *(रज़ि०)* ने सभी को पंक्तिबद्ध इकट्ठा किया । ईसाई सरदा
को भी बुलाया और उनमें से एक-एक से पूछा कि वह किस धर्म को पसन्द करता है
जब उनमें से कोई इस्लाम को स्वीकार करता तो मुसलमान 'अल्लाहु अकबर'
नारा लगाते और उसको सीने से चिमटा लेते । जो लोग अपने धर्म पर क़ायम रह
की घोषणा करते, ईसाई हर्षातिरेक से नारे लगाते और मुसलमान रंजीदा होते, मग
किसी तरह की ज़बरदस्ती को काम में न लाते । (फ़त्ह असकंदरिया, दावत

• ख़लीफ़ा द्वितीय के ज़माने की ही यह दूसरी घटना अत्यंत न्यायपूर्ण दास्तान
प्रतीक है । कहते हैं कि क़बीला बक्र-बिन-वाइल के एक शख़्स ने हैरा के ए
ग़ैर-मुस्लिम को क़त्ल कर दिया, उसपर हज़रत उमर *(रज़ि०)* ने हुक्म दिया कि क़ाति
को मक़तूल (क़त्ल किए गए व्यक्ति) के वारिसों के हवाले किया जाए । अत: व
मक़तूल के वारिसों को दे दिया गया और उन्होंने उसे क़त्ल कर दिया ।

(बुरहान शरह मवाहिबुर्रहमान, खण्ड-3, पृ० 287

इसके अलावा हज़रत उमर *(रज़ि०)* ने बैतुल मक़दिस वालों को जो संधि-प
लिखकर दिया था, उसके शब्द ये हैं —

''उनको संरक्षण (अमान) प्रदान किया गया उनकी जान व माल और
उनके कनीसों और सलीबों और उनके स्वस्थ और बीमारों के लिए ।
यह संरक्षण ईलिया की सारी क़ौम के लिए है । वचन दिया जाता है
कि उनके कनीसों को मुसलमानों का निवास न बनाया जाएगा, न
उनको ध्वस्त किया जाएगा, न उनके अहातों और उनकी इमारतों में
कमी की जाएगी, न उनकी सलीबों और उनके मालों में किसी चीज़
को नुक़सान पहुँचाया जाएगा । उनपर धर्म के मामले में कोई

ज़बरदस्ती न की जाएगी, न उनमें से किसी को हानि पहुँचाई जाएगी।''[1]

दमिश्क़वालों को हज़रत उमर *(रज़ि॰)* ने जो संधि-पत्र (सुलहनामा) लिखकर दिया सके शब्द ये हैं —

''उनको संरक्षण दिया जाता है उनकी जान और माल के लिए और उनके कलीसों और उनके शहर की फ़सील के लिए, उनके मकानों में से न कोई तोड़ा जाएगा और न मुसलमानों का निवास-गृह बनाया जाएगा । इसपर उनके लिए अल्लाह का वचन और उसके रसूल का ज़िम्मा है । —— उनके साथ नेकी के सिवा कभी कोई और सुलूक न किया जाएगा जब तक कि वे जिज़्या अदा करते रहेंगे ।''[2]

हज़रत उसमान *(रज़ि॰)* के दौर का वाक़िआ

तीसरे ख़लीफ़ा, हज़रत उसमान *(रज़ि॰)* के ज़माने में वलीद बिन उक़बा नामक सहाबी कूफ़ा के गवर्नर थे । एक बार एक यहूदी ने उनके सामने शोबदाबाज़ी (जादूगरी) के बहुत से तमाशे दिखलाए । तमाशा देखनेवालों में जुन्दुब-बिन-काब उज़वी एक मशहूर ताबई भी मौजूद थे । उन्होंने उन शोबदों को शैतानी असर समझकर उस शोबदा-बाज़ यहूदी को क़त्ल कर दिया । वलीद ने उसी वक़्त उनको गिरफ़्तार कर लिया और यहूदी के क़िसास में क़त्ल कर देना चाहा, मगर कुछ सामयिक स्थिति के आधार पर क़त्ल को स्थगित करके जेल में डाल दिया, मगर जेल के दरोग़ा ने उन पर तरस खाकर उनको जेल से भाग जाने का मौक़ा दे दिया । सुबह को जब वलीद ने क़िसास (हत्या-दण्ड) के लिए उनको तलब किया तो दरोग़ा ने कहा कि मुलज़िम रात को फ़रार हो गया । इसपर वलीद ने उसके बदले में दरोग़ा की गर्दन मार दी । (मरूजुल मज़हब-लिल-मसऊदी)

एक शोबदाबाज़ (जादूगर) यहूदी के क़िसास में एक प्रतिष्ठित मुसलमान को

---

1. यह संधि-पत्र उस समय लिखकर दिया गया था जब बैतुल मक़दिस वालों की ताक़त बिल्कुल टूट चुकी थी । (अल-जिहाद फ़िल-इस्लाम, पृ. 279)

2. यह संधि-पत्र उस समय लिखा गया जब आधा शहर तलवार के ज़ोर से जीता जा चुका था । (अल-जिहाद फ़िल-इस्लाम, पृ. 280)

क़त्ल करा देना न्याय और इनसाफ़ के इतिहास में ज़र्रीं (स्वर्णिम) वाक़िआ है, जिस
मालूम होता है कि इस्लामी हुकूमत में अपनों और ग़ैरों के साथ एक-सा बरताव हो
था।

हज़रत उमर बिन अब्दुल अज़ीज़ *(रह॰)* और दमिश्क़ का गिरजा

अमीर मुआविया *(रज़ि॰)* ने अपने शासन-काल में दमिश्क़ की जामा मस्जिद के विस्तार के लिए उसके पास का गिरजा लेना चाहा तो ईसाइयों ने गिरजा देने से इनकार कर दिया। अमीर मुआविया *(रज़ि॰)* चुप हो गए। अब्दुल मलिक-बिन-मरवा ने भी अपने शासन काल में इसकी इच्छा व्यक्त की और ईसाइयों को उसक मुआविज़ा देना चाहा, मगर ईसाइयों ने उसे मंज़ूर नहीं किया। अब्दुल मलिक भी चु हो गए। ख़लीफ़ा वलीद ने अपने ज़माने में फिर कोशिश की और एक बड़ी रक़ देनी चाही, मगर ईसाई तैयार नहीं हुए। वलीद को सख़्त ग़ुस्सा आया और उस कहा : मैं बलात् क़ब्ज़ा कर लूँगा। ईसाइयों ने कहा जो इस गिरजे को तोड़ेगा, व अंधा हो जाएगा। इस बात से वलीद और भी उत्तेजित हुआ और उसने अप हाथ से गिरजा तोड़ने में मदद दी। इस तरह यह गिरजा मस्जिद में सम्मिलित ह गया।

लेकिन जब हज़रत उमर-बिन-अब्दुल अज़ीज़ *(रह॰)* ख़लीफ़ा हुए तो ईसाइयों ने गिरजे की वापसी की दरख़ास्त की। ख़लीफ़ा ने दमिश्क़ के कर्मचारियों व अधिकारियों को आदेश दिया कि गिरजा वापस कर दिया जाए। मुसलमानों ने ज कर ईसाइयों की ख़ुशामदें कीं और कहा कि अगर तुम यह हिस्सा न लो तो दमिश्क़ के जितने गिरजे मुसलमानों के क़ब्ज़े में रह गए हैं, वे सब वापस कर दिए जाएँगे ईसाई इस बात पर राज़ी हो गए। हज़रत उमर बिन अब्दुल अज़ीज़ को इसकी सूचना मिली तो आपने तमाम गिरजे वापस कर दिए और दमिश्क़ के गिरजावाल ज़मीन की क़ीमत भी अदा कर दी। (तारीख़ इब्ने असाकिर)

इन्हीं हज़रत उमर-बिन-अब्दुल अज़ीज़ *(रह॰)* की ख़िलाफ़त के दौर में दमिश्क़ में स्थित सुप्रसिद्ध गिरजाघर क्षतिग्रस्त हो गया था। हज़रत उमर-बिन-अब्दुल अज़ीज़ ने सबसे पहले सरकारी ख़ज़ाने से गिरजा की मरम्मत कराई और ईसाइयों को शंख बजाने, जुलूस निकालने और सलीब उठाने की पूरी-पूरी इजाज़त दी। यद्यपि ख़ज़ाने

रुपया ख़र्च करने के मामले में आप बहुत सचेत थे । लेकिन ग़ैर-मुस्लिमों के ग़ासनागृहों और मेल-जोल के लिए इस्लामी ख़ज़ाने से ख़र्च किया । दूसरे धर्मवालों : साथ विशाल हृदयता की यह रौशन मिसाल है । (तारीख़े तबरी)

हज़रत उमर *(रज़ि.)* का दौर तो ख़ैर इस्लामी इतिहास में एक मिसाली दौर माना ाता है । लेकिन दूसरे सभी ख़लीफ़ाओं ने भी इस्लामी शिक्षाओं का आधार सदा ामने रखा और कभी अन्य धर्मवालों की धार्मिक स्वतंत्रता के अधिकार को हड़प नहीं केया । सर विलियम म्यूर अपनी एक प्रसिद्ध रचना 'The Caliphate — It's Rise nd Fall' में धार्मिक स्वंतत्रता के संदर्भ में एक घटना का उल्लेख करते हैं । वे लेखते हैं —

• ख़लीफ़ा मामून के वक़्त में एक पादरी यज़दान बख़्श दरबार में आया । मुसलमानों से उसका धार्मिक वाद-विवाद हुआ जिसमें वह हार गया । ख़लीफ़ा ने उससे कहा, "अब मुसलमान हो जाओ ।" उसने कहा, "ज़बरदस्ती या अपनी मर्ज़ी से?" ख़लीफ़ा ने कहा, "अपनी मर्ज़ी से, इसमें ज़बरदस्ती नहीं ।" उसने कहा, "फिर तो मैं मुसलमान नहीं होता ।" चुनांचे, ख़लीफ़ा ने हुक्म दिया कि इसे फ़ौजी हिफ़ाज़त में इसकी शरण-स्थली तक पहुँचा दिया जाए । संदेह है कि कोई नादान इसे नुक़सान ना पहुँचा दे ।"

• इसी प्रकार का एक और क़िस्सा — एक यहूदी साहित्यकार का है, जिसकी साहित्यिक रचना सुनकर ख़लीफ़ा मामून अर्रशीद बहुत ख़ुश हुआ और उसको इस्लाम की दावत दी, लेकिन उसने इस्लाम स्वीकार करने से साफ़ इनकार कर दिया । मामून ने बिना किसी बल प्रयोग या घृणा के, उसे तोहफ़े व इनाम के साथ विदा कर दिया । ख़लीफ़ा मामून की इस विशाल हृदयता का व्यवहार कोई व्यक्तिगत ख़ूबी नहीं थी, बल्कि इस्लाम की शिक्षाओं का परिणाम था । इस्लाम ने मुसलमान होनेवाले प्रत्येक व्यक्ति की उच्च नैतिकता, अच्छे व्यवहार की ओर रहनुमाई की है । उसके दिल में अत्याचार व ज़ुल्म के प्रति घृणा की भावना उभारी है । उसको अंत:करण की आज़ादी का सबक़ पढ़ाया है और उसे प्रेरित किया है कि दूसरे धर्मवालों के साथ प्रेम, दोस्ती और फ़राख़दिली से पेश आए, तथा उनकी धार्मिक भावनाओं का आदर एवं उनकी इबादतगाहों की रक्षा करना अपना धार्मिक अनिवार्य

कर्त्तव्य समझे । अगर संयोग से कभी व्यक्ति के अनुचित जोश या अधिकारी व
ग़फ़लत से किसी गिरजा या मंदिर को कोई नुक़सान भी पहुँच गया तो इस्लाम
हुकूमत ने अपने ख़र्च से उसकी क्षतिपूर्ति करना अपना ज़रूरी कर्त्तव्य समझा ।

मरियम के गिरजे की तामीर

• इतिहास इस बात का गवाह है कि ख़लीफ़ा हादी के ज़माने में मिस्र में हज़र
मरियम के गिरजे को कुछ नुक़सान पहुँचा, तो मिस्र के गवर्नर मूसा ने उसके सम्बन
में आलिमों (इस्लामी विद्वानों) से पूछा । चुनांचे उस ज़माने के सबसे बड़े इस्लाम
विद्वान लैस-बिन-सअद ने फ़तवा दिया — "पूरे गिरजे का नए सिरे से निर्माण
कराया जाए ।" और इसके बाद गिरजा की तामीर सरकारी ख़र्च से हुई ।

• अब्बासी शासन-काल ही में नस्टोरैन सम्प्रदाय के ईसाइयों के साथ मुसलमान
का तनाव हो गया । एक मुसलमान मारा गया, जिससे उत्तेजित होकर मुसलमानों ने
उनके गिरजा पर हमला कर दिया । गिरजे को संयोगत: आग लग गई । ईसाइयों ने
मुसलमान क़ाज़ी की अदालत में दावा दायर किया । चुनांचे, अबू जामिद असफ़
अईना और अबू बक्र ख़्वारिज़्मी जैसे प्रसिद्ध क़ानूनदाँ की राय से यह फ़ैसला हुअ
कि जिस व्यक्ति ने गिरजे पर हमला करने में पहल की है वह मुजरिम है, उसे उसके
जुर्म की सज़ा दी जाए । — Ecliper of Christianity

ईरान में अग्नि-पूजकों का ज़ोर था । क़दम-क़दम पर उनके उपासनागृह मौजूद
थे, लेकिन वे हमेशा सुरक्षित रहे । ईरान की विजय के तीन सौ साल बाद तक वे
इतिहासकारों के बयान के मुताबिक़ इराक़, फ़ारस, किरमान, ख़ुरासान और
आज़रबाईजान में अग्नि-गृह मौजूद थे । मोतसिम के दौर में एक जरनैल ने एक
मस्जिद के इमाम और मुअज़्ज़िन को दुर्रों (कोड़ों) से पीटा कि उनके बारे में मालूम
हुआ था कि वे एक पुराने अग्नि-गृह को मस्जिद में परिवर्तित कराना चाहते हैं
शीराज़ में ग्यारहवीं और तेरहवीं सदी तक ग़ैर-मुस्लिम प्रजा के त्योहारों के उत्सव में
शहर के बाज़ार सजाए जाते थे और ये त्योहार बड़ी धूम-धाम से मनाए जाते थे ।
(The Caliphs and their Non-Muslim Subjects, P.107)

इस्लाम की इन अद्भुत शिक्षाओं के असर को देखकर डॉक्टर गुस्तावली जो
एक फ्रेंच विद्वान हैं, अपनी अज़ीमुश्शान रचना तमद्दुने अरब में लिखते हैं—

> "मुसलमान हमेशा पराजित क़ौमों को अपने मज़हब (धर्म) की पाबंदी में आज़ाद छोड़ देते थे।"

इसकी तसदीक़ एक दूसरे यूरोपियन इतिहासकार गिब्बन के बयान से भी होती है।

एडवर्ड गिब्बन की राय

इस्लाम ने किसी धर्म के मामलों में हस्तक्षेप नहीं किया, किसी को दुख नहीं पहुँचाया, कोई धार्मिक अदालत दूसरे धर्मवालों को सज़ा देने के लिए क़ायम नहीं की। और इस्लाम ने लोगों के धर्म को बलपूर्वक परिवर्तन करने का कभी संकल्प और कामना नहीं की। इस्लाम क़बूल करने से लोगों को विजेताओं के बराबर अधिकार प्राप्त हो जाते थे, और पराजित सल्तनतें उन शर्तों और पाबंदियों से भी आज़ाद हो जाती थीं जो हर एक विजेता, दुनिया की शुरुआत से हज़रत मुहम्मद *(सल्ल०)* के ज़माने तक, हमेशा लागू किया करता था।

मिस्टर गिब्बन न तो मुसलमान हैं, न किसी मुसलमान देश में पैदा हुए, बल्कि यूरोप के मूल निवासी व यूरोपीय मूल नस्ल के हैं, लेकिन सच्चाई की आँख से उन्होंने इस्लाम का अध्ययन किया। इसलिए वे इस्लाम की विशेषताओं और ख़ूबियों को मानने पर मजबूर हैं, और पराजित क़ौमों के लिए इसको नेमत और बरकत समझते हैं। चुनाँचे आगे कहते हैं —

> "इस्लाम के इतिहास के प्रत्येक पृष्ठ में और प्रत्येक देश में जहाँ उसको विस्तार प्राप्त हुआ, वहाँ दूसरे धर्मों से विरोध-हीनता पाई जाती है। यहाँ तक कि फ़िलस्तीन में एक ईसाई शायर ने इन घटनाओं को देखकर, जिनका ज़िक्र हम कर रहे हैं, बारह सौ साल बाद ऐलानिया कहा था कि सिर्फ़ मुसलमान ही पृथ्वी पर एक ऐसी क़ौम हैं, जो दूसरे धर्मवालों को हर प्रकार की आज़ादी देती है।"
>
> — ज़वाले रूमतुल कुबरा, पृ० 158

हिरक़्ल और मुस्लिम शासकों का मुक़ाबला

यद्यपि इसी यरूशलम में मुसलमानों की जीत से पहले हिरक़्ल ने अन्य धर्म के

लोगों पर अत्याचार के पहाड़ तोड़ रखे थे, वह अपने पंथ के सिवा किसी दूसरे धर्मवाले को देखने की सहनशीलता न रखता था और न उदार था। फ़िलस्तीन, शाम और मिस्र से तमाम यहूदियों को निकाले जाने का हुक्म दिया गया था और उनपर तरह-तरह के अत्याचार व ज़ुल्म तोड़े जाते थे। यह व्यवहार मात्र उन्हीं के साथ नही बल्कि खुद ईसाई भी, जो उस विशेष पंथ व समुदाय से संबंध न रखते थे जिसका हिरक़्ल हीरो था, हर प्रकार के ज़ुल्म व उत्पात के शिकार होते थे; चुनाँचे याक़ूबी समुदाय के पादरियों का सरदार लिखता है कि —

> "हिरक़्ल ने अपने राष्ट्र में एलान कर रखा था कि जो ईसाई उसकी आस्था और पंथ से संबंधित न हो उसके नाक और कान काट दिए जाएँ और उसका घरबार लूट लिया जाए। याक़ूबी सम्प्रदाय के ईसाइयों को हिरक़्ल अपने सामने नहीं आने देता था। इसी लिए उनकी कहीं सुनवाई नहीं होती थी। यही कारण था कि अल्लाह ने बनी इसमाईल के घराने में एक ऐसी हस्ती को पैदा किया जिसने हमें ज़ालिम रोमवासियों के ख़ूनी पंजों से निजात दिलाई। चूँकि इस क्षेत्र को जीतने के बाद मुसलमानों ने किसी ईसाई से उसके धर्म के विषय में हस्तक्षेप नहीं किया। उनके आने से हम हमेशा-हमेशा के लिए रोमवासियों के ज़ुल्मों से मुक्ति पा गए और हमें अरबों के साथ शांति का जीवन प्राप्त हुआ।"
>
> — Chronique de Michel He Syrian-II, 412-413

अन्य न्यायप्रिय लेखकों का मत

यही स्थिति मिस्र में थी। वहाँ भी रोम के हाकिम अपनी ग़ैर-मज़हब जनता के साथ अत्यन्त निष्ठुरता का व्यवहार करते थे उनके पवित्र-स्थानों की बेइज़्ज़ती और अनादर करना और उपासनागृहों को तबाह करना अपना कर्त्तव्य समझते थे। एक आरमीनियन ईसाई अबू सालेह जो 13 वीं सदी के शुरू में हुआ है, लिखता है —

> "यह ऐसा वक़्त था कि शहंशाह (क़ैसर) पुराने धर्म के अनुयायी ईसाइयों पर बेहद ज़ुल्म करता था और उन्हें ज़बरदस्ती अपने सम्प्रदाय में दाख़िल करना चाहता था। अत: हिरक़्ल और मक़ूक़स के हाथों ईसाइयों ने असीमित कष्ट उठाए। जब अत्याचार अपनी चरम सीमा को पहुँच गए

तो 'मिल्लते हनीफ़िया' की एक क़ौम (इस्लामी क़ौम) उठी जिसने रोमवासियों के ग़ुरूर व अभिमान को तोड़ा और मिस्र को विजय करके याक़ूबी सम्प्रदाय के ईसाइयों को रोमवासियों के ज़ुल्म से मुक्ति दिलाई ।''

—The Churches and Monastries of Egypt, p-30-31

इन उल्लेखों की पुष्टि प्रोफ़ेसर आर्नल्ड के निम्नलिखित बयान से भी होती है, जिस का उल्लेख उन्होंने अपनी किताब प्रीचिंग ऑफ़ इस्लाम (Preaching of Islam) में किया है । लिखते हैं —

''इस्लामी हुकूमत में ईसाइयों को धार्मिक स्वतंत्रता प्राप्त हुई, तो एशिया-ए- कूचक के ईसाइयों को उस दौर में इसका विचार पैदा हुआ और सलजूक़ी तुर्कों के आगमन को यह समझकर ईसाइयों ने अपने हक़ में लाभप्रद जाना कि वे ईसाई हुकूमत के ज़ुल्म व सितम से हमको रिहाई दिलाएँगे और कर (Tax) ही की सख़्ती से नहीं बल्कि यूनानी कलीसा की यातनाओं से भी निजात मिलेगी, जिसने 'पोलवी' और 'आईकानोक्लास्ट' (Icnoclest) सम्प्रदायों पर सख़्त ज़ुल्म किए थे । चुनाँचे मीकाईल हश्तुम (अष्टम्) के ज़माने में मध्य एशिया के निवासियों ने तुर्कों से निवेदन किया कि वे उन शहरों पर भी क़ब्ज़ा कर लें, ताकि जनता को ईसाइयों की सल्तनत के ज़ुल्म व सितम से निजात मिले । चुनाँचे, अधिकतर अमीर व ग़रीब ईसाई वतन को छोड़कर तुर्कों की सल्तनत में चले गए ।''

— प्रीचिंग ऑफ़ इस्लाम,पृ० 111

सुलतान सलाहुद्दीन अय्यूबी और ईसाई

यरूशलम और बैतुल मक़दिस के ज़िक्र से सुलतान सलाहुद्दीन अय्यूबी के वृत्तांत सामने आते हैं । उसके दौर में सारे यूरोप के ईसाइयों ने मिलकर क्रुसेड का प्रण किया था, ताकि मध्य पूर्व (Middle East) से इस्लाम का अन्त कर दिया जाए । हज़ारों-हज़ार प्रेरणाएँ दिलाई गईं । एक बड़ी सम्पत्ति उपलब्ध कराई गई । बड़े-बड़े बादशाह अपनी पूरी शक्ति के साथ मैदान में उतरे, मुसलमानों पर ज़ुल्म व सितम के पहाड़ तोड़े गए । उनके इन अत्याचारों के दिल दहलानेवाली सच्ची घटनाओं से स्वयं

यूरोप का इतिहास भरा पड़ा है। इतिहासकारों का कहना है —

> "अपने उन्नति-काल में ईसाइयों ने मुसलमानों का इतना ख़ून बहाया था कि मस्जिदे अक़्सा में घुटने-घुटने ख़ून बह रहा था। ये अत्याचार यरूशलम में 22 शाबान, सन् 491 हि॰ (अनुसार 19 जुलाई, सन् 1094 ई॰) को ढाए गए। तमाम क़ैदी क़त्ल कर दिए गए। जो मुसलमान नज़र आया उसे कोठों और बुर्जों से सुरंगों में फेंका गया। ज़िन्दा जला दिया गया। सिर्फ़ शहर में 70 हज़ार मुसलमान क़त्ल किए गए।"
>
> (तारीखुल-खुलफ़ा)

मुस्लिम इतिहासकार ही नहीं स्वयं ईसाई इतिहासकार भी इस क़त्ले आम की पुष्टि कर चुके हैं। अतः इस विजय के मौक़े पर यरूशलम-विजेता रेमण्ड और गाऊफ़री ने सन् 492 हि॰ में इस विजय के संबंध में लिखा था —

> "अगर आप यह मालूम करना चाहते हैं कि हमने उन दुश्मनों (मुसलमानों) के साथ जिनको हमने यरूशलम में पाया — क्या सुलूक किया, तो सिर्फ़ आप इसका अन्दाज़ा और सही अन्दाज़ा इससे लगाएँ कि रिवाक़े सुलेमान और कलीसा-ए-आज़म में हमारे घोड़े घुटनों तक मुसलमानों के नजिस (अपवित्र) ख़ून में चलते रहे।"
>
> (तारीख़े क्रुसेड, ले॰ मचाड, भाग - 3, पृ॰ 362)

- लेकिन सुलतान सलाहुद्दीन ने अपने सत्ता-काल में इसके विपरीत ईसाइयों के साथ स्नेह का व्यवहार किया और एलान किया कि चालीस दिन के अन्दर जो ईसाई सुलतानी फ़ौज की निगरानी में तराब्लस या किसी और जगह जाना चाहे, चला जाए। क़ैदियों को भी मामूली जुर्माना लेकर रिहा कर दिया। स्वयं सुलतान ने 10 हज़ार क़ैदियों का जुर्माना अदा किया, इसके अलावा सुलतान ने कुछ बूढ़े ईसाइयों को अपना सामान अपने सरों पर ले जाते देखा, तो दिल भर आया। चुनाँचे उनको अपने पास से रुपया और ख़च्चर प्रदान किए।

(सीरत सलाहुद्दीन)

दुश्मन के बच्चे का मसला

• इन्हीं सलीबी जंगों का ज़िक्र है कि एक बार एक सिपाही अंग्रेज़-फ़ौज से एक दूध-पीता बच्चा उठा लाया । उसकी माँ बेचैन हो गई और अपने सरदार के पास जाकर विलाप करने लगी । सरदार ने कहा कि सुलतान सलाहुद्दीन एक सच्चा और रहमदिल मुसलमान है, उसके पास जाकर विनती करो । वह विलाप करती हुई आई और अपने ग़म की कहानी सलाहुद्दीन को सुनाई । सुलतान उसकी फ़रियाद सुनता जा रहा था और आँखों से आँसू जारी थे । वह अपनी कहानी ख़त्म कर चुकी तो सुलतान ग़ुस्से से काँप रहा था । खुद उठा और तलाश करा कर बच्चा औरत के हवाले किया और इस बात की परवाह नहीं की कि अगर यह बच्चा मुसलमानों में पले-बढ़ेगा तो भविष्य में मुसलमान हो जाएगा ।

यह घटना धार्मिक सहिष्णुता की एक सर्वोत्तम मिसाल है । इस्लामी धर्मशास्त्रियों का मत इस पर समान है कि अगर दो व्यक्तियों को जिनमें एक मुसलमान भी है और दूसरा ग़ैर-मुस्लिम, एक बच्चा कहीं लावारिस पड़ा मिल गया हो और उसके बारे में मुसलमान ने दांवा किया कि मेरा ग़ुलाम है और ग़ैर-मुस्लिम ने कहा कि मेरा बेटा है तो इस सूरत में फ़ैसला ग़ैर-मुस्लिम के हक़ में होगा, और बच्चा उसको दे दिया जाएगा । इस्लाम के धर्मशास्त्रियों का यह आदेश इस बात का सुबूत है कि इस्लाम को इनसानियत-नवाज़ी और स्वतंत्रता इस क़द्र प्रिय है कि इसके मुक़ाबिले में उसने मुसलमान के हक़ को भी स्वीकार नहीं किया और वह दूसरे धर्मवालों को अत्यन्त खुले दिल से यह हक़ देता है कि वे अपने धर्म के मुताबिक़ ज़िन्दगी गुज़ारें ।

सुलतान मुराद और उदारता

• सुलतान मुराद द्वितीय के मुक़ाबिले में जब ईसाई सेना होनियाद के नेतृत्व में — जो कैथोलिक था — क़ौमूह के मैदान में पंक्तिबद्ध थी, उस वक़्त होनियाद के साथी सुलतान सर्बिया ने पूछा कि अगर तुमको विजय हासिल हो गई तो क्या करोगे? उसने कहा कि सबको कैथोलिक बनाकर छोड़ूँगा ।

लेकिन जब यही सवाल सर्बिया ने मुराद के पास भेजा तो उसने जवाब में लिखा कि मैं अगर कामयाब हो गया तो हर मस्जिद के बग़ल में एक-एक गिरजा घर बनाने की इजाज़त दे दूँगा, ताकि जिसका जी चाहे मस्जिद में आए, जिसका जी

चाहे गिरजा में जाए । इसका असर यह हुआ कि शाह सर्बिया ने होनियाद का साथ छोड़ दिया, जिसकी वजह से सलीबियों की हार हुई ।

(ख़ुदा की बादशाहत, ग़ुलाम परवेज़)

मुस्लिम शासकों से संबंधित ईसाइयों के पत्र

इन वृत्तांतों से इस्लाम की प्रदान की हुई धार्मिक स्वतंत्रता और मुसलमान शासकों की अत्यन्त विशाल हृदयता तथा दूसरे धर्मवालों के साथ उनकी उदारता का साफ़-साफ़ पता चलता है कि अपने सत्ता-काल में उन्होंने न गिरजों को तोड़ा, न पुजारियों को सताया, न धार्मिक मामलों में उनके साथ किसी प्रकार की ज़बरदस्ती की । इसके और अधिक प्रमाण के लिए हम यहाँ कुछ ऐसे पत्रों की नक़लें प्रस्तुत कर रहे हैं, जो यद्यपि निजी थे, लेकिन अब प्रेस में आ चुके हैं — इन पत्रों के अध्ययन से बहुत-से तथ्य सामने आते हैं । ईसाई पेशवा बतरीक़ अलयसूब (तृतीय) दीव उर्दशेर (फ़ारस) के सामीन के नाम पत्र में लिखता है —

> ''यह 'तय' या 'अरब' जिनको ख़ुदा ने इस ज़मीन की हुकूमत प्रदान की है, आपको ज्ञात ही है कि अब हमारे पास रहते हैं, लेकिन इन्होंने कभी हमारे धर्म पर हमला नहीं किया, बल्कि सदैव हमारे धर्म का आदर करते हैं, हमारे पादरियों और ख़ुदा के मसीह के औलिया का सम्मान करते हैं और गिरजाघरों और मठों पर उनकी ओर से अनुकम्पा और कल्याण का व्यवहार किया जाता है ।''

(Eclipse of Christianity Assenani-III, pt. II, ज़माना लगभग सन् 660 - 664 ई॰)

> इसी तरह नज़बन के मैट्रोपोलीटन इलियास ने सन् 1008 ई॰ में लिखा है — ''मुसलमानों के बारे में हमारी आस्था है कि उनका आज्ञापालन और प्रेम अन्य धर्मों के लोगों के आज्ञापालन से ज़्यादा हमको प्रभावित करता है — चाहे हम उनकी प्रजा हों या न हों और चाहे वे हमसे कैसा ही सुलूक क्यों न करें । और यह इसलिए कि मुसलमान इसे अपना धार्मिक कर्त्तव्य समझते हैं कि हमारी हिफ़ाज़त करें और हमसे सद्व्यवहार करें और उनकी आस्था है कि उनमें से जो कोई अन्य धर्मवाले को सताएगा तो हज़रत मुहम्मद *(सल्ल॰)* क़ियामत के दिन उस मुसलमान से जिरह करेंगे ।''

(Eclipse of Christianity Assenani-III, pt- II

यह एक यथार्थ तथ्य है कि हज़रत मुहम्मद *(सल्ल॰)* ने ज़िम्मियों (ग़ैर-मुस्लिमों) के बारे में फ़रमाया है कि —

> "ख़बरदार! जो व्यक्ति किसी ऐसे व्यक्ति पर, जिससे संधि हो चुकी हो, अत्याचार करेगा या उसके अधिकारों में कमी करेगा, या उसकी शक्ति से ज़्यादा उस पर बोझ डालेगा, या उससे कोई चीज़ उसकी मर्ज़ी के ख़िलाफ़ वुसूल करेगा — उसके ख़िलाफ़ क़ियामत के दिन मैं स्वयं मुस्तग़ीस (अभियोक्ता) बनूँगा।"

— अबू दाऊद, किताबुल जिहाद

यानी संधि करनेवाले ग़ैर-मुस्लिमों के साथ सुलहनामा (संधि-पत्र) में जो शर्तें तय हो जाएँ उनमें किसी प्रकार की कमी या ज़्यादती करना उदाहरणार्थ, उनपर टैक्स बढ़ाना, ज़मीन पर क़ब्ज़ा करना, उनकी इमारतों को छीनना, उनके धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप करना या उनकी इज़्ज़त और आबरू पर हाथ डालना किसी तरह वैध नहीं है। अगर कोई मुसलमान ऐसा करता है तो इस्लामी क़ानून उसकी पकड़ करेगा ही, क़ियामत के दिन भी अल्लाह के रसूल *(सल्ल॰)* उसके ख़िलाफ़ दावा दायर करेंगे।

यही वजह थी कि मुसलमान शासक हमेशा अल्पसंख्यकों (यानी मुस्लिम राष्ट्र में ग़ैर-मुस्लिमों) के हक़ों की रक्षा करते रहे। इसी सुन्दर व्यवहार को देखकर रोमी महान राष्ट्र के पतन का इतिहासकार एडवर्ड गिब्बन लिखता है कि —

> "पूर्वीय ईसाई सिर्फ़ इसलिए मुसलमानों की हुकूमत में रहना पसन्द करते थे कि वहाँ उन्हें सम्पूर्ण धार्मिक आज़ादी प्राप्त थी और इसके विपरीत पश्चिम के ईसाई शासक उन्हें या तो रोमन कैथोलिक बन जाने पर मजबूर करते थे या फिर उन्हें धरती से मिटा देते थे।"

(Fall of the Roman Empire)'

इन बयानों और पत्रों के अध्ययन से स्पष्ट है कि मुसलमानों ने ग़ैर-मुस्लिम प्रजा के साथ धर्म के आधार पर कभी भी भेदभाव का बर्ताव नहीं किया।

राजनैतिक स्वतन्त्रता

स्लामी व्यवस्था और उसकी बुनियाद-

इस्लामी व्यवस्था में शासन एक ऐसी संस्था है जिसकी बुनियाद ईश्वरीय ‍इदायतों पर रखी गई है । अल्लाह ही उसका क़ानून बनानेवाला है और वही उसका र्वोच्च शासक है । फिर जिसको उस संस्था का संचालक बनाया जाता है, वह ‍अल्लाह के सामने अपने कर्मों और कर्त्तव्यों का जवाबदेह होता है । उसकी ज़िम्मेदारी ‍ह है कि अल्लाह और रसूल *(सल्ल०)* की ओर से जो नियम, आदेश और निर्देश ‍उसको मिलें उन्हें वह प्रसन्नता और अभिरुचि के साथ लागू करे और लोगों पर अपनी मर्ज़ी न थोपे, न किसी प्रकार के भेदभाव व पक्षपात से काम ले । भेदभाव व ‍पक्षपात-हीनता का दूसरा नाम न्याय यानी अद्ल है और अद्ल की इस्लाम में बड़ी अहमियत है । पवित्र क़ुरआन में अल्लाह का आदेश है —

> ''और जब लोगों के बीच फ़ैसला करो तो न्याय के साथ फ़ैसला करो ।'' (4 : 58)

यानी तुम्हारा काम यह नहीं है कि किसी के पक्ष में और किसी के ख़िलाफ़ पक्षपात बरतो या किसी की ओर झुक जाओ । एक और पवित्र आयत में पूरी मुस्लिम क़ौम को संबोधित करके अल्लाह ने फ़रमाया —

> ''ऐ लोगो, जो ईमान लाए हो! अल्लाह के लिए सीधे मार्ग पर क़ायम रहनेवाले और इनसाफ़ की गवाही देनेवाले बनो । किसी गिरोह की दुश्मनी तुमको इतना उत्तेजित न कर दे कि इनसाफ़ से फिर जाओ । न्याय करो, यह ईश-परायणता से ज़्यादा निकट है ।''
> (क़ुरआन, 5:8)

इस्लाम के पैग़ाम्बर हज़रत मुहम्मद *(सल्ल॰)* की राजनैतिक पद्धति

हज़रत मुहम्मद *(सल्ल॰)* की पैदाइश के वक़्त दुनिया की सारी राजनैति व्यवस्थाएँ या तो बादशाही की बुनियाद पर क़ायम थीं या वैयक्तिक तानाशाही आधार पर । प्राचीन और समकालीन प्रत्येक देश में प्रत्येक क़ौम पर तानाशाही भूत सवार था । छोटे तबक़े साम्राज्यवाद और ज़ुल्म व अत्याचार के शिकार पराजित क़ौमों को किसी तरह के राजनैतिक अधिकार प्राप्त न थे ।

यह हज़रत मुहम्मद *(सल्ल॰)* का उपकार था कि दुनिया के हर इंसान और क़ौ को आज़ादी से साँस लेने का अवसर मिला । आप *(सल्ल॰)* ने जो व्यवस्था स्थापि की वह वैयक्तिक आधार पर नहीं, बल्कि वैधानिक आधार पर थी । उसमें राजशाही के लिए कोई गुंजाइश थी न तानाशाही के लिए । उस पर न ख़ानदा परस्ती का असर था न व्यक्तित्ववाद का, बल्कि शासन करने के पूर्ण अधिकार खु को प्राप्त थे । जैसा कि ऊपर की पंक्तियों में बताया गया है कि खुदा का दिया ग क़ानून देश का क़ानून था — जिसमें अमीर-ग़रीब, अपने-पराए और काले-गोरे स बराबर थे । सच्चरित्रवान मुसलमान अल्लाह का नायब था । इस परिप्रेक्ष्य को विस्तृ करते हुए अल्लाह के नबी *(सल्ल॰)* ने यहाँ तक फ़रमाया है कि —

> "ख़बरदार रहो! तुममें से प्रत्येक निरीक्षक है और प्रत्येक अपनी प्रजा के प्रति जवाबदेह है । और मुसलमानों का सबसे बड़ा सरदार जो सब पर हुकमराँ है वह भी निरीक्षक है और अपनी प्रजा के प्रति जवाबदेह है ।" (हदीस—बुख़ारी)

एक दूसरी हदीस में फ़रमाया —

> "कोई शासक (हुक्मराँ) जो मुसलमानों में किसी प्रजा का सरबराह हुआ, अगर इस हालत में मरे कि वह उनके साथ धोखा और ख़ियानत करनेवाला था, तो अल्लाह उस पर जन्नत हराम कर देगा।"
> (हदीस—बुख़ारी)

यहाँ ख़ियानत से अभिप्राय अल्लाह के आदेश का उल्लंघन करके किर व्यक्ति का अपने मनमाने तरीक़े पर प्रजा के साथ बरताव करना है ।

ाय का सर्वोच्च आदर्श

अल्लाह के नबी *(सल्ल०)* ने न्याय व इनसाफ़ को हमेशा ध्यान में रखा और ापनी अनुयायी क़ौम के सामने ऐसा आदर्श प्रस्तुत किया जो रहती दुनिया तक ायम रहेगा । अत: जब एक मौक़े पर एक औरत चोरी के अपराध में गिरफ़्तार ाकर आप *(सल्ल०)* के सामने आई तो क़बीले के बड़े-बड़े सरदारों ने सिफ़ारिश रनी चाही । उस समय आप *(सल्ल०)* ने सब लोगों को संबोधित करके जो कुछ हा, वह इस्लामी क़ानून की आत्मा के समान है । आप *(सल्ल०)* ने फ़रमाया —

> "तुमसे पहले जो क़ौमें गुज़री हैं, वे इसी लिए तबाह हुईं कि वे लोग निम्न वर्ग के अपराधियों को क़ानून के मुताबिक़ सज़ा देते थे और उच्च वर्ग वालों को छोड़ देते थे । सौगन्ध है उस ज़ात की जिसके क़ब्ज़े में मुहम्मद *(सल्ल०)* की जान है, अगर मुहम्मद की बेटी फ़ातिमा भी चोरी करती तो मैं ज़रूर उसका हाथ काट देता ।"
>
> (हदीस)

अत: इसके बाद उस औरत को चोरी की सज़ा दी गई ।

वास्तव में नागरिकता के अधिकार की रक्षा उसी समय हो सकती है जब क़ानून की नज़र में छोटा-बड़ा, निम्न-उच्च, अमीर-ग़रीब सब बराबर हों । दुनिया के क़ानूनों के मुक़ाबिले में इस्लामी क़ानून को यह श्रेष्ठता प्राप्त है कि उसकी दृष्टि में अपने-पराए, शासक-शासित, हिन्दू-मुसलमान, और यहूदी-ईसाई सभी एक हैं । अपने दावे की दलील में हम यहाँ इस्लाम के सब से पहले ख़लीफ़ा (शासक) हज़रत अबू बक्र *(रज़ि०)* का वह ऐतिहासिक बयान प्रस्तुत करते हैं जिसमें उन्होंने नागरिकों के अधिकारों की रक्षा के संबंध में फ़रमाया था —

> "तुम्हारे अन्दर जो प्रभावहीन है वह मेरे निकट प्रभावशाली है, यहाँ तक कि मैं उससे उसका छीना हुआ अधिकार (हक़) उसे वापस दिला दूँ और तुम्हारे अन्दर जो प्रभावशाली है वह मेरे निकट प्रभावहीन है, यहाँ तक कि मैं उससे उस अधिकार को वसूल कर लूँ, जो उसने किसी दूसरे से हड़प कर रखा है ।"
>
> (ख़ुलफ़ा-ए-अरबअ़, पृ० 18)

इस कथन से स्पष्ट है कि जनता के अधिकारों की रक्षा करना एक मुस्लि शासक के अनिवार्य कर्तव्यों में से है और दूसरी चीज़ यह है कि यह उसव ज़िम्मेदारी है कि वह जनसामान्य के लिए आसानियाँ पैदा करे, उन पर ज़ुल्म अत्याचार बिलकुल न करे, उनके ऊपर ऐसा बोझ न डाले जिसके पात्र वे न ह सकते हों और इस बात की कोशिश करे कि उसके प्रभाव क्षेत्र में हर व्यक्ति बिन धार्मिक व सम्प्रदायिक भेद-भाव के अपनी मौलिक अवश्यकताओं की पूर्ति कर सके इस अधिनियम की व्याख्या करते हुए ख़लीफ़ा द्वितीय हज़रत उमर *(रज़ि०)* अप गवर्नर हज़रत अबू मूसा अशअरी *(रज़ि०)* को एक पत्र में लिखते हैं —

> ''सबसे अधिक सौभाग्यशाली शासक अल्लाह के निकट वह है जिसके कारण उसकी प्रजा ख़ुशहाल हो और सबसे ज़्यादा अभागा वह शासक है जिसके कारण उसकी प्रजा दुर्दशा-ग्रस्त हो । देखो, तुम अपने आप को टेढ़ेपन से बचाना ताकि तुम्हारे अधीन लोग टेढ़पन न अपनाएँ ।''

ग़ैर-मुस्लिमों के अधिकार

यहाँ आम जनता और प्रजा में ईसाई, यहूदी, मुसलमान और अन्य सभी क़ौम के लोग शामिल हैं । इसलामी विधान पर आधारित शुरू के चार ख़लीफ़ाओं के शासन काल (ख़िलाफ़ते राशिदा) में इस नीति पर निरंतर अमल होता रहा और आगे चलकर इस नीति की रौशनी में इमाम अबू यूसुफ़ *(रह०)* ने इस्लामी हुकूमत में ग़ैर-मुस्लिमों के अधिकारों के प्रति जो विचार-धारा प्रस्तुत की है, वह उनके शब्दों में निम्नानुसार है —

1. ग़ैर-मुस्लिमों के साथ उदारता व सहानुभूति का व्यवहार किया जाए ।
2. जो संधि भी उनसे की गई हो उसे पूरा किया जाए ।
3. राष्ट्र की रक्षा की ज़िम्मेदारी उन पर नहीं, बल्कि मुसलमानों पर होगी ।
4. उनके सामर्थ्य से अधिक उनपर जिज़्या और मालगुज़ारी का भार न डाला जाए । (किताबुल ख़िराज)

ज़्या का क़ानून

फिर वे कहते हैं कि निर्धन, अंधे, बूढ़े, सन्यासी, उपासनागृहों के कर्मचारी ौरतें और बच्चे जिज़्या से मुक्त होंगे। ग़ैर-मुस्लिमों की सम्पत्तियों और मवेशियों र कोई ज़कात न होगी। ग़ैर-मुस्लिमों से जिज़्या वसूल करने में मार-पीट और ारीरिक पीड़ा से काम लेना उचित नहीं। अदायगी न करने की स्थिति में अधिक से धिक क़ैद किया जा सकता है। नियत जिज़्या से अधिक कोई वस्तु उनसे वुसूल रना अवैध है और मुहताज व ग़रीब ग़ैर-मुस्लिमों का भरण-पोषक शासन के कोष से केया जाना चाहिए। (किताबुल ख़िराज, पृ॰ 122)

इस सिलसिले में वे खुलफ़ा-ए-राशिदीन की कार्यशैली को उदाहरण के रूप में ।श करते हैं। जैसे हज़रत अली *(रज़ि॰)* हर सरकारी कर्मचारी को आदेश देते थे कि ख़बरदार! किसी को मार-पीट कर या धूप में खड़ा करके ख़िराज वुसूल न करना और न ऐसी सख़्ती करना कि वे सरकारी अनिवार्यता की पूर्ति हेतु अपने कपड़े या जानवर बेच डालने पर मजबूर हों।

इसी तरह हज़रत उमर *(रज़ि॰)* का यह तरीक़ा कि वे अपनी व्यवस्था के पदाधिकारियों पर जिरह करके यह इत्मीनान कर लेते थे कि किसानों पर मालगुज़ारी वुसूल करने में उनकी कमर तोड़ देने से परहेज़ किया गया है और जब किसी इलाक़े के मुहासिल (कर वुसूल करनेवाले) आते थे तो जनता के नुमाइंदों की गवाहियाँ ली जाती थीं कि किसी मुसलमान या ग़ैर-मुस्लिम किसान पर ज़ुल्म ढा कर तो तहसील (कर वुसूल) नहीं की गई है। (अल ख़िराज, पृ॰ 16,37,114)

इस्लामी हुकूमत की आम धारणा

इमाम अबू यूसुफ़ *(रह॰)* अपनी इसी किताब के आरम्भ में ख़लीफ़ा हारून अल-रशीद के सामने इस्लामी हुकूमत की जो अवधारणा पेश करते हैं वह दुनिया के प्रत्येक शासक के लिए अनुकरणीय है —

> ''ऐ अमीरुल मोमिनीन! अल्लाह तआला ने, जो प्रशंसा और स्तुति का अकेला पात्र है, आपको एक बहुत बड़ी ज़िम्मेदारी सौंपी है। इसका सवाब सबसे बड़ा और इसकी सज़ा सबसे ज़्यादा सख़्त है। उसने इस

उम्मत का नेतृत्व और सरदारी आपके सुपुर्द की है। उसने आपको इसका संरक्षक (निगराँ) बनाया है और इसके ज़रिए आपको परीक्षा में डाला है और क़ौम के मामलों की ज़िम्मेदारी आपको सौंप दी है। याद रखिए! जो निर्माण अल्लाह के ख़ौफ़ से हट कर किसी और चीज़ पर किया जाए, वह थोड़ी देर भी नहीं ठहरता, कि अल्लाह उसे जड़ से उखाड़ कर उसी पर गिरा देता है जो उसका बनानेवाला है। हर निगराँ को अपने पालनहार के सामने इस प्रकार हिसाब देना है, जिस प्रकार दुनिया में कोई चरवाहा मवेशियों के रेवड़ के मालिक को हिसाब देता है। अतः समस्त लोगों के साथ क़ानून के मामले में समरूपता रखिए, चाहे लोग आपके निकट के हों या दूर के, ग़रीब हों या अमीर, मुस्लिम हों या ग़ैर-मुस्लिम। कल अल्लाह के समक्ष आप इस प्रकार उपस्थित न हों कि आप अत्याचार और प्रताड़ित करनेवालों में हों, क्योंकि बदले के दिन का स्वामी और हाकिम लोगों के फ़ैसले उनके कर्मों के आधार पर करेगा न कि पदों के आधार पर।" (अल खिराज, पृ॰ 3,4,5)

कुछ ऐतिहासिक घटनाएँ

इस संदर्भ में हम कुछ ऐतिहासिक घटनाओं की ओर इशारा करते हैं ताकि अनुमान लगाया जा सके कि अपने प्रभावकाल में इस्लाम के अनुयायियों ने पराजित क़ौमों की वैयक्तिक और राजनैतिक स्वतंत्रता को किस प्रकार बरक़रार रखा और अगर कभी किसी मुसलमान से भूल से कोई त्रुटि हो भी गई तो तत्काल उसके सुधार की क्या-क्या तद्बीरें की गईं।

हज़रत अबू बक्र *(रज़ि॰)*, जो प्रथम ख़लीफ़ा हैं, सन् 12 हि॰ में शाम (सीरिया) पर हमले का आदेश देते हुए सेना को निम्नलिखित शब्दों में संबोधित करते हैं —

"जब तुम ख़ुदा की लड़ाइयाँ लड़ो तो साहसपूर्वक लड़ो, लेकिन अपनी विजय पर बच्चों और औरतों के ख़ून के धब्बे न लगाओ। कोई खजूर का पेड़ नष्ट न करो, न अनाज के खेतों को जलाओ। कोई फलदार पेड़ न काटो, न मवेशियों को सताओ, सिवाए उनके जो खाने के लिए ज़बह किए जाएँ और जब तुम कोई संधि करो या शर्त तय करो तो उस पर क़ायम रहो और अपने कथन के अनुकूल कर्म करके दिखाओ।"

राजनैतिक दृष्टिकोण से मानो कि यह दुश्मनों के दिल मोह लेने का एक ग्रदस्त ज़रिया था और ग़ैर-मुस्लिम क़ौम के साथ जंग का चार्टर था जिस पर उस र में अमल होता रहा है और भविष्य में भी होता रहेगा ।

• स्पेन में जब मुसलमान गए तो वहाँ की ईसाई सल्तनत के अधीन यहूदियों घोर अत्याचार हो रहे थे । मुसलमानों ने यहूदियों को ईसाई शासकों के ज़ुल्म के गों से छुड़ाया और उन्हें उनके धर्म में पूरी आज़ादी प्रदान की । ईसाई अपने मलों का फ़ैसला अपने जजों से कराते थे । वे हर प्रकार के त्योहार मनाते, अपने रजे निर्माण करते थे । आख़िरी ज़माने में ईसाई धार्मिक उन्माद में क़रतबा के ज़ारों में आकर हज़रत मुहम्मद *(सल्ल.)* की शान में गुस्ताख़ी करते । लेकिन लामी हुकूमत की ओर से सज़ा मात्र उसी व्यक्ति को दी जाती थी, जो ऐसा पराध करता था । उसके अपने मज़हब के दूसरे अनुयायियों से न कोई पूछ-ताछ जाती थी, न उन्हें कोई तकलीफ़ पहुँचाई जाती थी । इस प्रकार सम्पूर्ण ईसाई ता अम्न व इत्मीनान का जीवन व्यतीत करती थी । (Arnold's)

• एक बार एक उस्मानी मुफ़्ती से किसी ने प्रश्न किया —"अगर 10 मुसलमान क यहूदी या ईसाई ज़िम्मी के क़त्ल में सम्मलित हों तो क्या वे सभी क़िसास दले) में मारे जाएँगे । मुफ़्ती ने उत्तर दिया कि निस्संदेह, दस नहीं एक हज़ार हों भी ।

• हज़रत अली *(रज़ि.)* के शासन-काल में एक मुसलमान पर एक ज़िम्मी र-मुस्लिम) के क़त्ल का इलज़ाम लगाया गया । सभी सुबूत मिल जाने के बाद पने क़िसास का हुक्म दे दिया । वधित के भाई ने आकर निवेदन किया कि मैंने न माफ़ कर दिया, मगर आप मुत्मइन नहीं हुए और फ़रमाया : " ——— शायद गों ने तुझे डराया-धमकाया है ।" उसने कहा, "नहीं, मुझे ख़ून का बदला मिल का है और मैं समझता हूँ कि इसके क़त्ल से मेरा भाई वापस नहीं आ जाएगा ।" ब आपने फ़रमाया — " जो हमारा ज़िम्मी (ग़ैर-मुस्लिम) है उसका ख़ून हमारे ख़ून ी तरह है और उसकी दियत (ख़ून का बदला) हमारी दियत की तरह है ।"

इसी लिए इस्लामी शासन के दण्ड-विधान में ग़ैर-मुस्लिम और मुसलमान गरिक का दरजा समान है । अपराध की जो सज़ा मुसलमान को दी जाएगी, वही

ग़ैर-मुस्लिम को भी दी जाएगी। ग़ैर-मुसलमान नागरिक का माल मुसलमान चुराए
मुसलमान का माल ग़ैर-मुस्लिम चुराए — दोनों स्थितियों में चोर को सज़ा दी जाएगी
ग़ैर-मुस्लिम किसी मुसलमान औरत से ज़िना (व्यभिचार) करे या मुसलमान कि
ग़ैर-मुस्लिम औरत से ज़िना करे — दोनों सूरतों में सज़ा समान होगी।

(किताबुल ख़िराज, पृ॰ 108-10

यह इसी शिक्षा का प्रभाव है कि इस्लाम के अनुयायियों ने अपने आधिप
काल में कुछ अपवादों को छोड़कर अपनी बागडोर जज़्बात के हाथों में नहीं दी, य
तक कि असभ्य क़बीले तक इस्लाम में आकर सभ्य और ख़ुदा से डरनेवाले हो गए
यह संकेत चंगेज़ ख़ाँ और बग़रा ख़ाँ के वारिसों (उत्तराधिकारियों) की तरफ़ है जिन
शासन-काल में या तो यह आम हुक्म था कि जो व्यक्ति मुसलमानों के तरीक़े
कोई जानवर ज़िब्ह करे, प्रत्येक व्यक्ति को अधिकार है कि उसे क़त्ल कर दे, लेकि
यही क़बीले जब ईमान ले आए और मुसलमान हो गए, तो उनकी उदारता औ
ईश-भय की यह स्थिति हो गई कि अज़बक ख़ाँ ने पीटर के पादरी-प्रमुख के ना
सन् 1313 ई॰ में एक शाही फ़रमान लिखा, जिसमें अंकित था कि —

> "कोई व्यक्ति इस्लामी शासन की सीमाओं में किसी ईसाई के गिरजे को नुक़सान नहीं पहुँचाएगा, उसकी सम्पत्ति नहीं छीनेगा और उसके धर्म से कोई छेड़छाड़ व उसका विरोध नहीं करेगा। जो ऐसा करेगा वह शासन की ओर से सज़ा के योग्य होगा। और अपने ख़ुदा के समक्ष उसका जवाबदेह।" (Arnold's p-1)

• ख़लीफ़ा 'हिशाम' के लड़के ने एक बार शिकायत की कि एक मुसलमा
को एक ईसाई ने मारा है। ख़लीफ़ा ने कहा —"उससे कहो कि अदालत में जाक
फ़रियाद करे। मुसलमान और ईसाई का भेद कैसा है।"

(Preaching of Islam by Arnold.

अतएव, इस न्याय और इनसाफ़ के सुलूक को देखकर ही यरूशलम के फ़िर
'बालकी' के एक पादरी-प्रमुख ने क़ुस्तनतीनिया के पादरी-प्रमुख के नाम एक पत्र
लिखा था —

"मुसलमान न्यायनिष्ठ हैं और हमसे न कोई अन्याय करते हैं और न किसी प्रकार के अत्याचारपूर्ण व्यवहार।" (Bochier, p-31)

दुनिया में यह सिर्फ़ इस्लामी हुकूमत की ख़ूबी है कि वह अपनी प्रजा के साथ धार्मिक व सामुदायिक विभेद किए बिना न्याय, उदारता, समानता और विशाल-हृदयता का सुलूक करती है। उसको अपनी रक्षा की छत्रछाया में नैतिक, सांसारिक और आध्यात्मिक विकास के अवसर प्रदान करती है। और उनके साथ किए हुए वादों का सम्मान करती है। चाहे जंग हो या समझौता (संधि), दोनों स्थितियों में वादे के पालन की सख़्त ताकीद है।

वचन का पालन और क़ुरआन की शिक्षा

क़ुरआन मजीद में फ़रमाया गया है —

"वचन (वादे) का पालन करो! निस्संदेह, वचन के बारे में तुम से पूछगछ होगी।" (क़ुरआन, 17 : 34)

और दूसरी जगह फ़रमाया —

"बहुदेववादियों (मुशरिकों) में से जिन लोगों के साथ तुमने समझौता किया, उन्होंने तुम्हारे साथ वादा निभाने में कोई कमी नहीं की और न तुम्हारे ख़िलाफ़ किसी की मदद की, तो उनके साथ किए गए वादे को समझौते की अवधि तक पूरा करो।" (क़ुरआन, 9 : 4)

अपने वचन को पूरा करना इस्लामी शासन की विदेश नीति में से एक महत्वपूर्ण धारा है और इतिहास गवाह है कि मुसलमानों ने ईरानियों, तूरानियों, शामियों, मिस्रियों और सिंधियों से बहुत-से समझौते किए और उनके पूरी तरह पाबन्द रहे।

वचन का पालन करने की कुछ सुप्रसिद्ध घटनाएँ

सबसे पहले स्वयं इस्लामी शरीअत के लानेवाले हज़रत मुहम्मद *(सल्ल.)* ने अपनी ज़िन्दगी से इसका नमूना प्रस्तुत किया। आपकी पवित्र जीवनी के अध्ययन से

पता चलता है कि पूरे अरब प्रायद्वीप में एक व्यक्ति भी ऐसा न उठा कि जिसने कहा हो कि आप *(सल्ल०)* ने फ़लाँ वक़्त मुझसे एक वादा किया था मगर उसे पूरा नहीं किया। बल्कि आप *(सल्ल०)* तो दूसरों को वादा निभाने की नसीहत किया करते थे।

• अबू-राफ़ेअ एक ग़ुलाम थे। कुफ़्र की हालत में क़ुरैश की ओर से दूत बन कर मदीना आए। यहाँ की स्थिति देख कर इस्लाम की सच्चाई उनके दिल में जा बसी। अर्ज़ किया — "ऐ अल्लाह के रसूल! मैं अब इस्लाम विरोधियों में वापस नहीं जाऊँगा।"

हज़रत मुहम्मद *(सल्ल०)* ने फ़रमाया —"मैं वादा ख़िलाफ़ी नहीं कर सकता और न दूतों को अपने पास रोक सकता हूँ। तुम वापस जाओ, अगर वहाँ पहुँच कर भी दिल की यही स्थिति रहे तो आ जाना।" (सीरतुन्नबी)

• सुलह हुदैबिया (हुदैबिया की संधि) में एक शर्त यह थी कि मक्का से जो व्यक्ति मुसलमान होकर मदीना जाएगा, वह मक्कावालों की माँग पर वापस कर दिया जाएगा। अभी यह समझौता लिखा ही जा रहा था कि हज़रत अबू-जन्दल पैरों में बँधी ज़ंजीर के साथ मक्कावालों की क़ैद से भाग कर आए और अपने ज़ख़्म दिखाकर हज़रत मुहम्मद *(सल्ल०)* से फ़रियाद की। सारे मुसलमान उस दर्द भरे दृश्य को देखकर तड़प उठे। मगर आप *(सल्ल०)* ने बड़े इत्मीनान के साथ सब की ओर से मुख़ातब होकर फ़रमाया — "ऐ अबू-जन्दल! सब्र करो। हम वादा-ख़िलाफ़ी नहीं कर सकते। अल्लाह जल्द ही तुम्हारे लिए कोई रास्ता निकालेगा।" अतएव अबू-जन्दल उसी हालत में मक्का वापस हो गए। (सीरतुन्नबी)

• बद्र की जंग में मुसलमानों की संख्या दुश्मनों के मुक़ाबिले में बहुत कम थी। ऐसे मौक़े पर हर जरनल की इच्छा यह होती कि जिस तरह से आदमी बढ़ सकें बेहतर है। मगर हज़रत मुहम्मद *(सल्ल०)* ऐसे ज़रूरत के वक़्त भी वचन-पालन के हामी रहे। अतएव हुज़ैफ़ा और उनके पिता जबल-बिन-जाबिर मक्का से आ रहे थे। रास्ते में इस्लाम विरोधियों ने उनको घेर लिया। आख़िर इस वादे पर रिहाई मिली कि जंग में मुहम्मद *(सल्ल०)* का साथ न देंगे। ये दोनों सेवा में उपस्थित हुए और घटना बयान की। हज़रत मुहम्मद *(सल्ल०)* ने फ़रमाया — "तुम दोनों वापस जाओ, हम हर हाल में वादा निभाएँगे। हमको सिर्फ़ अल्लाह की मदद चाहिए।"

(सीरतुन्नबी)

हज़रत उमर *(रज़ि॰)* और वचन का पालन

एक बार हुरमुज़ नामक एक पारसी पकड़ा हुआ राज-दरबार में लाया गया। हुरमुज़ मुसलमानों का जानी दुश्मन था। उसने मुसलमानों को काफ़ी नुक़सान पहुँचाया था। इसी कारण उसके क़त्ल का हुक्म जारी हुआ। हुरमुज़ को जब यह मालूम हुआ तो उसका पूरा शरीर काँप गया और वह अपने बचने का उपाय सोचने लगा। सोचते-सोचते उसे इस बात का ख़याल आया कि मुसलमान बात के पक्के होते हैं। जो वादा करते हैं, उसे पूरा कर दिखाते हैं। यह सोचकर उसने पीने के लिए पानी माँगा। पानी का कटोरा हाथ में लेने के बाद उसने अपनी योजना और चालाकी पर अमल करते हुए हज़रत उमर *(रज़ि॰)* से कहा कि जब तक मैं यह पानी न पी लूँ, मुझे क़त्ल न किया जाए। हज़रत उमर *(रज़ि॰)* ने वादा कर लिया। वह बहुत होशियार आदमी था, उसने तुरंत पानी ज़मीन पर फेंक दिया। जब उससे इसका कारण पूछा, तो उसने जवाब दिया कि आपने चूँकि मुझसे वादा किया था कि जब तक मैं यह पानी नहीं पी लूँगा, तब तक क़त्ल न किया जाऊँगा, इसी लिए मैंने यह पानी फेंक दिया कि न यह पिऊँगा, न क़त्ल किया जाऊँगा। हज़रत उमर *(रज़ि॰)* ने उसकी यह बात सुनकर वादे के मुताबिक़ उसे रिहा कर दिया।

• इस्लाम के इतिहास से दमिश्क़ की संधि का क़िस्सा भी इस सिलसिले में प्रस्तुत किया जा सकता है, जिसको 'आर्नल्ड' ने अपनी रचना — "Preaching of Islam" में अंकित किया है, वे लिखते हैं कि —

> "इस्लाम के मुजाहिद (जान तोड़ संघर्ष करनेवाले योद्धा) हज़रत अबू-उबैदा *(रज़ि॰)* और हज़रत ख़ालिद *(रज़ि॰)* के नेतृत्व में दमिश्क़ के क़िले की घेराबन्दी (मुहासिरा) किए हुए पड़े थे। लम्बे मुहासिरे से तंग आकर एक रात हज़रत ख़ालिद *(रज़ि॰)* क़िले की खाई पार करके कुछ मुजाहिदों के साथ क़िले की दीवार पर चढ़ गए और नीचे उतर कर दरवाज़ा खोल दिया और उनकी टोली के सिपाही पराक्रमी अन्दाज़ में शहर में दाख़िल हुए। ईसाइयों ने जब यह स्थिति देखी तो तत्काल दूसरी तरफ़ जाकर धोखे से हज़रत अबू-उबैदा *(रज़ि॰)* से सुलह कर ली। परिणाम यह हुआ कि एक तरफ़ तो हज़रत ख़ालिद *(रज़ि॰)* विजयी के हैसियत से शहर के अन्दर बढ़ते चले गए और दूसरी तरफ़ हज़रत

अबू-उबैदा *(रज़ि॰)* सुलह का झण्डा हाथ में लिए आगे बढ़ते रहे । बीच शहर में दोनों सेनाएँ आ मिलीं और मामले की सफ़ाई हुई । आधा शहर हज़रत ख़ालिद *(रज़ि॰)* ने फ़त्ह किया था और उधर हज़रत अबू उबैदा *(रज़ि॰)* शहरवालों को शांति दे चुके थे । लेकिन विजयी होने के बाद भी संधि की शर्तों को अमान्य नहीं किया गया । इसके बाद एक लम्बी अवधि तक एक ही छत के नीचे मुसलमान और ईसाई अपने-अपने मज़हब के मुताबिक़ अपनी इबादत की रस्में अदा करते रहे । मुसलमानों ने शक्ति और सत्ता के बावजूद ईसाइयों से किसी प्रकार की छेड़छाड़ नहीं की और न उनके मज़हबी मामलों में कोई हस्तक्षेप किया ।''

(तारीख़े इस्लाम)

अमीर मुआविया *(रज़ि॰)* और रोम के निवासी

एक बार हज़रत अमीर मुआविया *(रज़ि॰)* ने रोमवासियों से नियत अवधि के लिए समझौता किया । जब उसके ख़त्म होने का समय आया तो अमीर मुआविआ *(रज़ि॰)* अपनी फ़ौजें लेकर उनकी सरहद पर पहुँच गए कि अवधि ख़त्म होने के बाद तुरन्त बिना किसी सूचना के आक्रमण कर दें । यह देखकर अम्र-बिन-उतबा *(रज़ि॰)*, जो फ़ौज के एक सिपाही थे, चिल्लाए —

''अल्लाह सर्वोच्च है! अल्लाह सर्वोच्च है! वादा ख़िलाफ़ी नहीं ।''

हज़रत अमीर मुआविया *(रज़ि॰)* ने पूछा क्या बात है? बताया —''मैंने अल्लाह के रसूल *(सल्ल॰)* को यह फ़रमाते सुना है कि जब किसी क़ौम से समझौता किया जाए तो उसकी कोई गिरह न बाँधी जाए, न खोली जाए । (यानी, उसमें कमी या ज़्यादती न की जाए ।) अगर समझौता ख़त्म करना ज़रूरी ही हो जाए तो उसको पहले से ख़बर दी जाए, फिर समझौता ख़त्म किया जाए ।'' यह सुनकर हज़रत अमीर मुआविआ *(रज़ि॰)* वापस चले गए ।

यहाँ यह दृष्टि में रहे कि अमीर मुआविया *(रज़ि॰)* ने मुआहिदा (संधि) की खिलाफ़वर्ज़ी नहीं की थी, मात्र अवधि समाप्त होने की बेख़बरी से लाभ उठाना चाहते थे । लेकिन उनका यह कर्म भी इस्लाम की आत्मा के विरुद्ध समझा गया ।

इस्लाम से पहले, जंग के दौरान जो लोग गिरफ़्तार होकर आते थे, उनको —

1. या तो क़त्ल कर दिया जाता था,
2. या किसी मुआविज़े के बदले में छोड़ दिया जाता था ।
3. या उनको गुलाम बना लिया जाता था ।

क़त्ल कर देने या मुआविज़ा लेकर युद्ध-बंदियों को छोड़ देने के मुक़ाबले में लोगों को गुलाम (दास) बनाकर रखने में बड़े फ़ायदे मालूम हुए । इसलिए क़ैदियों को गुलाम बनाने का रिवाज आम होता चला गया और इसके बाद तो यह रिवाज इतना फैला कि लोग अच्छे-भले नागरिकों को पकड़कर बेचने लगे और उनके साथ जो कठोर-हृदयता का व्यवहार विभिन्न देशों, राष्ट्रों, क़ौमों और स्वामित्व-प्राप्त लोगों ने किया है, उसका एक हलका-सा चित्र हम किताब के आरम्भिक हिस्से में प्रस्तुत कर चुके हैं ।

लेकिन इस्लाम में इस प्रकार की गुलामी को कभी प्रोत्साहित नहीं किया गया बल्कि इसके विरुद्ध इसको एक कड़वा घूंट समझा गया है । इसका कारण यह था कि इस्लाम के अभ्युदय के समय अरब में बांदी-गुलाम बनाने का आम रिवाज था, जिसको तुरन्त बंद नहीं किया जा सकता था । इसलिए धीरे-धीरे अरब के उद्‌दण्ड समाज को यह बात समझाई गई कि आज़ादी इनसान का जन्मजात अधिकार है और जिहाद (लड़ाई) का मक़सद किसी देश को प्राप्त करना या किसी क़ौम को निरर्थक गुलाम बनाना नहीं है, और एक इनसान को किसी दूसरे इनसान पर श्रेष्ठता और बड़ाई किसी वर्ग या वंश की वजह से नहीं हासिल हो सकती । अगर हो सकती है, तो वह मात्र सत्कर्मों से जैसाकि कुरआन-पाक में आदेश है —

> "निस्संदेह, अल्लाह की दृष्टि में श्रेष्ठ वह है, जो सत्कर्मी है और ईश-भय रखनेवाला है ।" (कुरआन, 49 : 13)

मानव-समानता की बुनियाद पर मानव-एकता की यह आम शिक्षा है जो कुरआन और हदीस में जगह-जगह मिलती है, इस आम शिक्षा के साथ गुलामों के लिए बहुत सारी विशिष्ट हिदायतें मौजूद हैं, जिनमें बताया गया है कि गुलाम तुम्हारे भाई हैं । उनके साथ भाईचारे का व्यवहार किया करो । उनको इज़्ज़त से और आराम से रखो और बेहतर यह है कि उनको आज़ाद कर दो । अतएव, अल्लाह ने मोमिनों को संबोधित करते हुए कुरआन पाक में फ़रमाया —

> "और तुम सब अल्लाह की बन्दगी करो उसके साथ किसी को साझी

न बनाओ । माँ-बाप के साथ अच्छा व्यवहार करो, निकट संबंधियों और अनाथों और मुहताजों के साथ हुस्ने सुलूक (अच्छे व्यवहार) से पेश आओ और पड़ोसी रिश्तेदारों से, अपरिचित पड़ोसी से, पहलू के साथी और मुसाफ़िर से और उन लौण्डी (दासी), ग़ुलामों (दासों) से जो तुम्हारे क़ब्ज़े में हों — उपकार का संबंध रखो । विश्वास करो कि अल्लाह किसी ऐसे व्यक्ति को पसन्द नहीं करता जो अपने घमण्ड में हो और अपनी बड़ाई पर गर्व करता हो।''

(क़ुरआन, 4:36)

ऐतिहासिक प्रमाण

व्यावहारिक स्तर पर अल्लाह के रसूल *(सल्ल॰)* ने हमेशा इन शिक्षाओं पर अमल किया ।

'बद्र' की जंग के क़ैदियों के बारे में तो पहले लिखा जा चुका है । इसके अलावा सुलह हुदैबिया (हुदैबिया की संधि) में 70 क़ैदी हाथ आए । आपने उनको बिना मुआविज़ा लिए और बिना शर्त के आज़ाद कर दिया और ग़ुलाम बनाकर अपनी या मुसलमानों की दासता में नहीं रखा । (असहहुस्सियर पृ॰ 98)

सन् 6 हिजरी में आप *(सल्ल॰)* ने 'ज़ैद-बिन-हारिसा' के नेतृत्व में 40 आदमियों का एक ग्रुप हुमूम की ओर भेजा जिसने क़बीला 'मुज़ैना' की एक औरत हलीमा और उसके शौहर को गिरफ़्तार करके आप *(सल्ल॰)* की सेवा में हाज़िर किया । आप *(सल्ल॰)* ने मियाँ-बीवी दोनों को आज़ाद कर दिया ।

(इब्ने असीर, खण्ड-2, पृ॰ 78)

हज़रत सलमान फ़ारसी *(रज़ि॰)* ग़ुलाम थे । आप *(सल्ल॰)* उनके साथ हमेशा हुस्ने सुलूक (अच्छे व्यवहार) और नरमी और स्नेह के साथ पेश आते थे ।

अरब में ग़ुलाम को ''अब्दी '' (मेरा बन्दा) कहने का दस्तूर था, लेकिन आप *(सल्ल॰)* ने इससे मना किया और फ़रमाया कि उन्हें ''फ़ताई'' (मेरा लड़का) और बांदी को ''फ़ताती'' (मेरी लड़की) कह कर पुकारा करो और उनको अपने साथ बिठाकर खिलाओ ।

अगर कभी संयोगवश, आप *(सल्ल॰)* के साथी (सहाबा) अपने गुलामों पर सख़्ती करते तो इस पर आप प्रतिष्ठित सहाबी को भी डाँट देते थे। 'मअरूर-बिन- सुवैद' ने एक बार हज़रत अबू ज़र ग़िफ़ारी *(रज़ि॰)* को देखा कि जो चादर वे ओढ़े हुए हैं, वैसी ही उनके गुलाम के बदन पर है। पूछा —"इसका कारण क्या है?" उन्होंने जवाब दिया कि एक बार मैंने एक गुलाम को अपशब्द कह दिए थे। उसने जाकर अल्लाह के रसूल *(सल्ल॰)* से शिकायत की। आप *(सल्ल॰)* सुनकर नाराज़ हुए और मुझे बुलाकर फ़रमाया — "अबू ज़र, तुमसे अभी तक जाहिलीयत (इस्लाम से पूर्व के अज्ञानता-काल) की बू नहीं गई। फिर फ़रमाया —

"ये तुम्हारे भाई, तुम्हारे सेवक हैं। जिन्हें अल्लाह ने तुम्हारा अधीन बनाया है। अतः जिस किसी का भाई उसके अधीन हो उसे चाहिए कि उसको वही खिलाए, जो खुद खाता है और वही पहनाए, जो स्वयं पहनता है। तुम उन पर उनके सामर्थ्य से अधिक भार न डालो और अगर ऐसी कोई भारी ख़िदमत उनके सुपुर्द करो तो खुद उनका हाथ बटाओ।" (हदीस : बुख़ारी)

- अबू-मसऊद अंसारी *(रज़ि॰)* का बयान है कि एक बार मैं अपने गुलाम को मार रहा था। सहसा मैंने सुना कि पीछे कोई कह रहा है — "ख़बरदार अबू मसऊद! अल्लाह तुझ पर इससे ज़्यादा शक्ति रखता है, जो तुझको इस गुलाम पर हासिल है।"

पलटकर देखा तो अल्लाह के रसूल *(सल्ल॰)* थे। मैंने तुरन्त अनुरोध किया — "खुदा के वास्ते यह अब आज़ाद है।" इस पर हुज़ूर *(सल्ल॰)* ने फ़रमाया : "अगर तू इसको आज़ाद न करता तो आग के अज़ाब में फँस जाता।" (हदीस : बुख़ारी)

- एक बार एक व्यक्ति ने आप *(सल्ल॰)* से पूछा कि हम कितनी बार अपने गुलाम को माफ़ करें। आप *(सल्ल॰)* ने उत्तर दिया, "अगर वह प्रतिदिन सत्तर बार भी ग़लती करे तो भी माफ़ किए जाओ।"

कितनी ज़बरदस्त उदारता और विशाल-हृदयता है जिसकी मिसाल विश्व का इतिहास पेश करने में असमर्थ है। मुसलमानों ने हज़रत मुहम्मद *(सल्ल॰)* के इस नमूने को दाँतों से पकड़ा और हमेशा अपने अधीनों और गुलामों के साथ अच्छा सुलूक करके दिखाया और मात्र इतना ही नहीं, बल्कि गुलाम का मरतबा आज़ाद लोगों के

बराबर समझा, यहाँ तक कि उनको इमामत और नेतृत्व का अधिकार भी दिया और उन्होंने कभी कोई संधि-समझौता किया तो उसे विश्वसनीय माना ।

गुलाम के वादे पर भरोसा

इस्लामी इतिहास की सुप्रसिद्ध घटना है कि 'सूस की जंग' से निवृत्त होकर हज़रत 'अबू-सबरा' सेना को लिए जुन्देसापुर पहुँचे तो देखा कि 'ज़र्रीं-बिन-अब्दुल्लाह बिन-कुलैब' पहले से वहाँ मुहासिरा (घेराव) किए पड़े हैं । अब इन दोनों ने सहमत होकर जुन्देसापुर पर अपना ध्यान केन्द्रित किया और सुबह-शाम जंग होती रही । इसी दौरान मुसलमानों के एक गुलाम ने जिसका नाम 'मुक्निफ़' था, शहरवालों के पास एक "शान्ति पत्र" लिखकर भेज दिया । मुसलमान उससे बेख़बर थे । दुश्मनों ने अमन पाकर क़िले के दरवाज़े खोल दिए और बाहर चले आए । मुसलमानों ने पूछा — "क्या बात है ?" कहने लगे, "तुम हमें अमन दे चुके हो और इसके बावजूद लड़ने पर तुले हुए हो ।" मुसलमानों को जब वास्तविक तथ्य की सूचना हुई तो उनमें से कुछ ने कहा कि — "वह अमन तो गुलाम का दिया हुआ है, विश्वसनीय नहीं ।" जुन्देसापुर के रहनेवाले बोले, "हम तो तुम्हारे आज़ाद और गुलाम में कोई अन्तर नहीं देखते । तुम्हारे एक व्यक्ति ने 'अमन' दिया है तो वह विश्वसनीय होना चाहिए," मुसलमानों ने पूरी घटना की सूचना हज़रत उमर *(रज़ि.)* के पास भेजी तो आपने उनको लिखा —

> "अल्लाह ने वादा निभाने का बहुत महत्व बताया है और तुम उस समय तक अपने वादे को पूरा करनेवाले नहीं होंगे जब तक उसको पूरा-पूरा अदा नहीं कर दोगे । जब तक तुमको (दुश्मनों की ओर से) सन्देह रहे तुम पालन करते रहो और जिस चीज़ का वादा करो उसे दो ।"

इस प्रकार इस्लामी लश्कर ने गुलाम (दास) मुक्निफ़ के द्वारा दिए गए अमन-पत्र को विश्वसनीय मानकर उसे लागू कर दिया और वापस चले आए ।

(तबरी : भाग-4, ज़िक्र फ़तहे-सोस)

इस्लाम में गुलाम की हैसियत

इस घटना से इस्लामी राष्ट्र में गुलाम की हैसियत निश्चित होती है । सब जानते हैं कि जंग में किसी व्यक्ति को अमन देने का मामला बहुत महत्त्वपूर्ण है; लेकिन इस्लाम की वचनपालन की मर्यादा देखिए कि एक गुलाम पूरे दुश्मन शहर को अमन का परवाना देता है और मुसलमानों का ख़लीफ़ा तक उसके वचन को विश्वसनीय क़रार देता है ।

इस्लाम में ज़िम्मियों का स्थान

ज़िम्मियों के मामले में भी इस्लाम ने बड़ी विशाल-हृदयता का सुबूत दिया है ।

इस्लाम की परिभाषा में ऐसे लोगों को 'ज़िम्मी' कहा जाता है जो अपने धर्म (इस्लाम से हटकर अन्य धर्मों) पर क़ायम रहते हुए इस्लामी शासन-क्षेत्र में निवास करते हैं । इस्लाम ने ज़िम्मियों के अधिकारों का बड़ा ध्यान रखा है । उनकी जान व माल की रक्षा को इस्लामी शासन का अनिवार्य कर्त्तव्य नियत किया है । यदि कोई मुसलमान किसी ज़िम्मी को हानि पहुँचाए या क़त्ल कर दे तो उसकी क्षतिपूर्ति की जाएगी और उस मुसलमान को 'ज़िम्मी' के बदले में क़त्ल किया जाएगा ।

ज़िम्मी और हज़रत उमर *(रज़ि॰)*

- हज़रत उमर *(रज़ि॰)* ने तो अपनी सल्तनत में यह हुक्म लागू कर दिया था कि कोई मुसलमान किसी 'ज़िम्मी' की ज़मीन (औने-पौने दामों में) नहीं ख़रीद सकता । उन्हें अकारण गिरफ़्तार नहीं किया जा सकता, यहाँ तक कि उन्हें 'उफ़' तक नहीं कह सकता ।
- हज़रत 'उमैर-बिन-सअद' *(रज़ि॰)* 'हिम्स' के शासक, की ज़बान से एक बार कहीं एक ग़ैर-मुस्लिम (ज़िम्मी) की शान में लफ्ज़ 'ख़ज़ाकल्लाह' निकल गया, जिसके मानी है "खुदा तुझे रुस्वा करे", इस पर वे स्वयं इतने शर्मिन्दा हुए कि हुकूमत से यह कहकर इस पद से इस्तीफ़ा दे दिया कि — "इस पद की वजह से ही मुझसे यह हरकत हुई है ।"

हज़रत 'अम्र-बिन-अल आस' *(रज़ि.)* के बेटे अब्दुल्लाह ने एक 'क़िब्ती' कौम के एक आदमी को अकारण मारा, हज़रत उमर *(रज़ि.)* ने आम सभा में जिसमें स्व अम्र-बिन-अल आस *(रज़ि.)*, जो मिस्र के गवर्नर थे, भी मौजूद थे । उस क़िबती वे हाथ से अब्दुल्लाह के कोड़े लगवाए और अम्र-बिन-अल आस *(रज़ि.)* और उनके बे को संबोधित करके फ़रमाया कि —

> "तुम लोगों ने कब से आदमियों को गुलाम बना लिया है, उनकी माँ ने तो उनको आज़ाद जन्म दिया था ।" (तारीख़े इस्लाम)

बहरहाल, इतिहास गवाह है कि हज़रत उमर *(रज़ि.)* को हमेशा ज़िम्मियों वे अधिकारों का ख़्याल रहता था और आपने दुनिया से विदा होते वक़्त भी अप उत्तराधिकारियों को निम्नलिखित शब्दों में उनके अधिकारों के संरक्षण का आदेश दिया था —

> "मैं ज़िम्मियों के अधिकारों को अब अपने उत्तराधिकारियों के सुपुर्द करता हूँ । उनको अल्लाह और उसके रसूल ने पनाह दे रखी है, इसलिए मेरे उत्तराधिकारी को ध्यान में रखना चाहिए कि जो मुआहिदे और समझौते उनके साथ हुए हैं उन पर सख़्ती से प्रतिबद्ध हों और उन पर किसी प्रकार का ज़्यादा बोझ न डाला जाए ।"
>
> (तबक़ाते इब्ने सअद)

एक ग़ैर-मुस्लिम किसान की ओर से शिकायत की गई कि उसकी फ़स फ़ौजवालों ने पाँव से रौंद डाली है, तो जाँच-पड़ताल करके उसको दस हज़ार दिरह मुआवज़ा सरकारी ख़ज़ाने से दिलाया गया ।

एक यहूदी भिखारी और ख़लीफ़ा द्वितीय

एक बार हज़रत उमर *(रज़ि.)* ने देखा कि एक बूढ़ा यहूदी भीख माँगता फिरता है । आप *(रज़ि.)* ने उसको बुलाकर पूछा कि — "तुम भीख क्यों माँगते हो, जबकि क़ानूनन इसको निषेध कर दिया गया है ?" उसने कहा — "मेरी उम्र 90 साल है । मेरी औलाद, बीवी, बच्चे सब ख़त्म हो गए हैं । मेरी सहायता करनेवाला कोई नहीं और खुद किसी काम के

लायक़ नहीं हूँ । भीख न माँगूँ तो पेट कैसे पालूँ?'' आपने उसी वक़्त हुक्म दिया कि सरकारी ख़ज़ाने से इसका वज़ीफ़ा नियत कर दिया जाए ।'' लोगों ने कहा, ''हुज़ूर यह तो यहूदी है ।'' फ़रमाया —''तो क्या हुआ, हमारी प्रजा में से तो है । इस्लामी ख़ज़ाने से प्रत्येक व्यक्ति को सहायता दी जाएगी चाहे वह मुस्लिम हो या ग़ैर-मुस्लिम । हमने इस व्यक्ति से जवानी में जिज़्या वुसूल किया है तो अब बुढ़ापे में इसकी सहायता क्यों न करें ।'' (किताबुल ख़िराज, पृ 72)

रत अली *(रज़ि॰)* की ज़िरह (कवच) और यहूदी

एक दिलचस्प वाक़िआ हज़रत अली *(रज़ि॰)* का है जो ख़ुद उनके शासन-काल पेश आया था । हज़रत अली *(रज़ि॰)* की 'ज़िरह' (कवच) एक यहूदी के पास देखी , लेकिन आपने सत्ताधिकार प्राप्त होने के बावजूद यहूदी से 'ज़िरह' नहीं ली, क मामला अदालत में ले गए । क़ाज़ी (इस्लामी रियासत का न्यायधीश) ने क़ानून मुताबिक़ पूरे सुबूत न मिलने पर हज़रत अली *(रज़ि॰)* के विरुद्ध निर्णय देते हुए रह' यहूदी के पास ही रहने दी । इससे बढ़कर वैयक्तिक-स्वतन्त्रता का कोई और ण विश्व के इतिहास में मिलना दुर्लभ ही है । अपनी सत्ता है, अपनी अदालत है, ज़ी को इस्लामी राष्ट्र के ख़ज़ाने से वेतन दिया जाता लेकिन फ़ैसला शासक के य एक साधारण यहूदी के पक्ष में होता है क्योंकि तत्कालिक ख़लीफ़ा अपना कोई ह पेश न कर सके ।

अल्लाह, अल्लाह! यह वह न्याय है जिस पर ज़मीन व आसमान क़ायम हैं । के आधार पर मानव को सर्वश्रेष्ठ प्राणी कहलाने का अधिकार है । शायद इसी य को देखकर 'जरवान' की घाटी के ईसाइयों ने हज़रत 'अबू-उबैदा' *(रज़ि॰)* को धित करते हुए कहा था —

> ''ऐ मुसलमानो! हम तुम्हें 'बाज़नतीनी' हाकिमों पर प्राथमिकता देते हैं— हालाँकि वे हमारे मज़हब के माननेवाले हैं — इसलिए कि तुम मामलों में उनसे अच्छे हो और हमसे हमेशा न्याय व इंसाफ़ से पेश आते हो और तुम्हारी हुकूमत तुलना में उनसे कई गुना अच्छी है — उन्होंने तो हमारे घर-बार हमसे छीन लिए ।''
>
> ('Preaching of Islam' by Arnold)

ये शब्द उन्होंने इसलिए कहे कि इससे पहले 'रोमियों' के हाथों 'मसीहियों' तोड़े गए ज़ुल्म और अत्याचार से वे पूरी तरह परिचित थे । अतएव इसके सुबूत लिए हम यहाँ यूरोप के प्रसिद्ध इतिहासकार मिस्टर गिब्बन का वह लेख पेश करते जो उन्होंने 'Early days of Christianity', P. 448-89, Chap. 16 में लिखा है —

मसीहियों पर रोमियों के ज़ुल्म और अत्याचार

सन् 64 हिजरी में जबकि यूनान व रोम और शाम व फ़िलस्तीन में मसीहि की संख्या हज़ारों से आगे बढ़ चुकी थी, नेरो ने उनपर रोम के जलाए जाने का इ आरोप लगाया और फिर उसके हुक्म से हर वह व्यक्ति जिसने मसीही होने इक़रार किया, गिरफ़्तार कर लिया । किसी को फाँसी दी गई, किसी को ज़िन्दा ज दिया गया, किसी को कुत्ते से फड़वा दिया गया और सैकड़ों ईसाई औरतों, मर्दों अ बच्चों को रोम के अखाड़ों में पाशविक क्रीड़ा में प्रयोग किया जाने लगा । सन् ई० में तीतूस (Titus) की निगरानी में बैतुल मक़दिस पर आक्रमण किया । 97 ह आदमी गिरफ़्तार करके ग़ुलाम बना लिए गए । ग्यारह हज़ार लोगों को भूखा म दिया गया । हज़ारों आदमी पकड़कर रोम के अखाड़ों और अम्फ़ीथिएट (Amphitheatres) में जंगली जानवरों का भोजन बनने और तलवारबाज़ों की तल का अभ्यास-पटल बनने के लिए भेज दिए गए ।

इस सिलसिले में एक दूसरे इतिहासकार का बयान है कि —

> ''नेरो के बाद मार्क्स आरील्यूस, सप्टीम्यूस, सीयूरूस और दालेरयान ने मसीहियत और उसके अनुयायियों को कुचलने की कोशिशें कीं । आख़िर में डालेर कलीस्टियान ने तो ज़ुल्म और अत्याचार की हद कर दी । उसने एक आम हुक्म जारी किया कि कलीसा नष्ट कर दिए जाएँ । इंजीलें जला दी जाएँ और कलीसाओं को प्रदान की गई संपत्तियाँ ज़ब्त कर ली जाएँ । सन् 303 ई० में स्वयं बादशाह ने नीको मीडिया के केन्द्रीय कलीसा को ध्वस्त कर दिया और पवित्र पुस्तकें जलवा दीं । सन् 304 ई० में उसने आम हुक्म दे दिया कि जो मसीही धर्म पर जमा रहे, वह क़त्ल कर दिया जाए, उसके बाद सख़्तियाँ और बढ़ीं यहाँ तक कि जो लोग मसीही धर्म पर जमे रहते उनके शरीर घायल करके उन पर सिरका और नमक डाला जाता और बाद में उनकी बोटी-बोटी काटी

जाती थी। कभी-कभी उनको कनीसों में बन्द करके आग लगा दी जाती। और अधिक 'आनन्द' लेने के लिए एक-एक ईसाई को पकड़कर दहकते हुए अंगारों पर लिटा दिया जाता था — या लोहे के काँटे उसके बदन में भोंके जाते थे। यह वह दौर था जब कि तमाम सल्तनत के बड़े से बड़े और छोटे से छोटे अधिकतम पद उन्हीं के हाथ में थे और स्वयं बादशाह के दरबार में ईसाइयों की एक बड़ी भीड़ मौजूद थी।''

(Revcutts Constaline The Great, Page-55-60)

दोनों योग्य लेखकों के बयान से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उस : में शासकवर्ग में वही चंगेज़ियत क्रियाशील थी जिसने मंगोलों के दिलों में मरते ों को तड़पते देखना जैसा भयानक खेल देखने और उस पर खुश होने की आरज़ू । की थी। इस अध्ययन के पश्चात् यदि हम इस्लामी इतिहास पर नज़र डालें तो र और आत्मीयता के स्रोत बहते नज़र आएँगे। सहयोग और समता का असीम र अखण्ड सिलसिला है जो आदि से अंत तक फैला हुआ मिलता है। इस्लामी य व्यवस्था का परिप्रेक्ष्य यह है कि सभी को समान रूप से अवसर प्राप्त हों। सी व्यक्ति के मार्ग में वर्ण व वंश और जाति व गिरोह जैसी रुकावटें पैदा न करें, ल्क जो भी राष्ट्र व शासन की सीमा के अंदर रहता है उसके विषय में अल्लाह से ।

ारत उमर-बिन-अब्दुल अज़ीज़ *(रह॰)* और ग़ैर-मुस्लिम

इस्लामी न्याय-व्यवस्था की पाबंदियाँ (शर्तें) खुलफ़ा-ए-राशिदीन तक ही सीमित ीं थीं। उमर-बिन-अब्दुल अज़ीज़ *(रह॰)* के दौर में एक ईसाई ने हिश्शाम-बिन-द्दुल मलिक पर एक जायदाद का दावा किया, तो आपने अदालत में तलब किया र कहा, ''मुद्दई के बराबर में खड़े होकर जवाबदेही करो।'' हिश्शाम ने वकील र्रर करना चाहा तो आपने कहा, ''नहीं, तुम स्वयं सामने खड़े होकर जवाब ।'' हिश्शाम ने ईसाई को कठोर शब्द कहना शुरू किया। हज़रत उमर-बिन-द्दुल अज़ीज *(रह॰)* ने सख़्ती से डाँटा और कहा कि दोबारा यह हरकत की तो ा सज़ा दिए नहीं छोड़ूँगा। सुनवाई के बाद ईसाई का हक़ साबित हुआ। उसको ग्री' दिलाई और आदेश दिया कि हिश्शाम के दस्तावेज़ जो उसने पेश किए थे ष्ट कर दिए जाएँ।

ख़लीफ़ा 'हारून-अर-रशीद' और ईसाई

ख़लीफ़ा हारून रशीद के ज़माने में एक बूढ़े ईसाई ने तत्कालीन ख़लीफ़ा विरुद्ध एक दावा किया । न्यायाधीश, क़ाज़ी अबू यूसुफ़ (रह०) ने ख़लीफ़ा आमने-सामने उसकी न सिर्फ़ सुनवाई की बल्कि ख़लीफ़ा से हलफ़ (शपथ) लिया इस पर भी अबू यूसुफ़ (रह०) मरते दम तक अफ़सोस करते रहे कि ख़लीफ़ा को उ ईसाई के बराबर क्यों न खड़ा किया । (ख़िलाफ़त-व-मलूकियत, पृ० 284

सुल्तान मुहम्मद (द्वितीय) और विलाचिया के ईसाई

पन्द्रहवीं शताब्दी ई० में सुल्तान मुहम्मद द्वितीय, उस्मानी सल्तनत का प्रसि शासक हुआ है । उसका समकालीन एक ईसाई बादशाह 'विलाद'-चतु "विलाचिया" में राज्य करता था । वह व्यक्ति इतना अत्याचारी था कि अत्याच करने में उसे आनन्द आता था । जितनी बुरी तरह वह किसी को क़त्ल कर सकता उससे चूकता न था । हज़ारों मुसलमानों को उसने क़त्ल करा डाला । क़त्ल का सब प्रिय तरीक़ा उस अत्याचारी का यह था कि जीवित-व्यक्ति के शरीर में 'कीलें' ठुक देता और उसको तड़पता देखकर प्रसन्न होता । "विलाचिया" में बहुत-से मुस्लि व्यापारी आबाद थे । उसने उन सबको क़त्ल करा दिया । ये ख़बरें 'कुस्तनतीनिय (वर्तमान में इसका नाम 'इस्तंबूल' है) पहुँची तो वहाँ के मुसलमान तड़प उठे लेकिन उसका बदला उन्होंने 'कुस्तनतीनिया' की प्रजा से नहीं लिया, बल्कि सुल्त ने स्वयं 'विलाचिया' पर आक्रमण कर दिया । 'विलाद' पराजित होकर भाग गया ।

सोचें ! कि सुल्तान मुहम्मद फ़ातेह यदि 'विलाद' के अत्याचारों का बद अपनी ईसाई प्रजा से लेना चाहता तो उसे कौन रोक सकता था । परन्तु वह इस्ला आदेश एवं उपदेश की रौशनी में समझता था कि ये निर्दोष हैं । यद्यपि उस शासनकाल में बहुत से ईसाई-देशों में मुसलमानों पर अत्याचार हो रहे थे, कि स्वयं उसकी ईसाई प्रजा शान्तिपूर्ण ज़िंदगी गुज़ार रही थी ।

(ख़िलाफ़ते उस्मानिय

अब्दुर्रहमान (तृतीय) — स्पेन के शासक का आम-हुक्म

स्पेन में सन् 923 ई० में जब 'अब्दुर्रहमान' (तृतीय) के विजय का क्षेत्र बढ़ गया तो उसने निम्नलिखित आदेशों की प्रतियाँ तैयार कराकर सारे देशों और फ़ौजों में विज्ञापित करा दीं ताकि कोई ऐसी बेक़ायदगी न होने पाए कि जिससे दूसरी क़ौमों के लोगों को तकलीफ़ पहुँचे और इस्लाम के नाम पर चोट आए। वे आदेश निम्नलिखित हैं —

> "दुश्मन के देश पर हमला करते समय औरतों, बच्चों, धार्मिक लोगों और संन्यासियों को कोई तकलीफ़ न दी जाए, बल्कि उनकी हर तरह हिफ़ाज़त की जाए। अगर दुश्मन को एक बार जान की अमान दे दी गई है तो धर्म के अनुसार वादे की पाबन्दी ज़रूरी है। अगर एक सरदार या अफ़सर ने भी पनाह दी हो तो तमाम सरदारों पर उसका अनुपालन अनिवार्य है। अफ़सरों को चाहिए कि दुश्मन का जो माल लड़ाई में हाथ आए उसके बंटवारे में किसी प्रकार की कमी या पक्षपात न करें। सिपाही चाहे जिस धर्म का हो उसको बराबर का हिस्सा मिलना चाहिए, और भर्ती में किसी प्रकार की सख़्ती न हो। जिस व्यक्ति के माँ-बाप अभी ज़िन्दा हों उसे उनकी आज्ञा के बिना लड़ाई में शामिल न किया जाए।"
>
> (तारीख़े हस्पानिया)

रॉबर्टसन का न्यायपूर्ण बयान

इन्हीं आदेशों का परिणाम था कि मुसलमान तो एक तरफ़, ईसाई भी इस्लाम की प्रशासनिक सुव्यवस्था की प्रशंसा करते थे। अतः मशहूर लेखक 'रॉबर्टसन' अपने इतिहास 'चार्ल्स पंचम' में लिखता है कि —

> "इस्लाम के ख़लीफ़ाओं ने मुल्की उद्देश्यों के मुक़ाबले में तलवार के ज़ोर से दीन को फैलाने की कभी कोशिश नहीं की जैसा-कि बार-बार कहा जाता है। वे साफ़ तौर पर स्पष्ट कर देते थे कि विजित क़ौम के धर्म, संस्कृति एवं परम्पराओं की पूरी तरह रक्षा की जाएगी। इस आज़ादी के बदले में वे उनसे बहुत थोड़ा-सा 'ख़िराज' लेते थे जो उन माँगों के मुक़ाबले में जो उन क़ौमों के पुराने शासक उनसे वुसूल किया करते थे, बहुत ही कम था।" (पृष्ठ 131)

यही लेखक आगे लिखता है —

> "जो व्यवहार 'अम्र-बिन-अल आस' (इस्लामी सेनापति) ने मिस्रवालों के साथ किया वह इससे कम न था। उन्होंने मिस्र में रहनेवालों से वादा किया कि उन्हें पूरी आज़ादी, पूरा इनसाफ़ और जायदाद की मिल्कियत के पूरे अधिकार दिए जाएँगे और उन अत्याचारपूर्ण और असीमित माँगों के बग़ैर दिए जाएँगे, जो यूनान के बादशाह उनसे वुसूल किया करते थे। केवल एक, वार्षिक 'जिज़्या' लिया जाएगा जिसकी राशि बड़े से बड़े मालदार पर दस रुपये से अधिक नहीं थी।" (पृष्ठ-132)

जिज़्या और ग़ैर-मुस्लिम

'जिज़्या' जिसका उल्लेख रॉबर्टसन ने अपनी उच्च श्रेणी की पुस्तक में किया है और प्रायः अन्य ग़ैर-मुस्लिम लेखक इस पर एतिराज़ करते रहते हैं यहाँ तक कि बहुतों ने तो इसको 'मुसलमान न होने का जुर्माना' तक कहा है। हालाँकि ऐसी बात नहीं है, न यह जुर्माना है न टैक्स बल्कि क़ाज़ी अबू यूसुफ़ *(रह.)* और इमाम शाफ़ई *(रह.)* आदि के कथनानुसार —

> "जिज़्या तो जान की हिफ़ाज़त के बदले में ऐसी रक़म है जिसका अदा करना ज़रूरी है न कि इस्लामी सीमा में रहने का मुआविज़ा।"
>
> (किताबुल ख़िराज)

जबकि मुसलमानों को अपनी आमदनी का चालीसवाँ भाग सरकारी ख़ज़ाने में जमा करना पड़ता है और इसके अलावा उनके ज़िम्मे फ़ौजी सेवाएँ भी होती थीं, ग़ैर-मुस्लिम प्रजा की जान व माल की हिफ़ाज़त भी वही लोग करते थे। और इसके मुक़ाबले में एक 'ज़िम्मी' थोड़ा-सा 'जिज़्या' अदा करके इस बात का हक़दार था कि मज़े से अपने घर में बैठा रहे।

जिज़्या की उचित राशि

आँकड़ों से मालूम होता है कि-जिज़्या आम आदमी से पौने तीन रुपये वार्षिक और बड़े से बड़े करोड़पति से बारह रुपये वार्षिक से अधिक नहीं लिया जाता था,

ाबकि एक मुसलमान करोड़पति को कम से कम ढाई लाख रुपये वार्षिक 'ज़कात' ़ रूप में अदा करने पड़ते । 'सदक़ात' व 'ख़ैरात' इसके अलावा थे ।

जेज़्या वसूल करने की शर्तें

1. जिज़्या वसूल करने में ज़िम्मियों पर अत्याचार करना वर्जित है । उनके साथ नरमी करने की ताकीद की गई है ।
2. जिज़्या की राशि तय करने में उनकी हैसियत से ज़्यादा तकलीफ़ देना जायज़ नहीं ।
3. औरतें जिज़्या अदा करने से मुक्त रखी गई हैं ।
4. उस व्यक्ति से भी जिज़्या नहीं लिया जाता था, जिसकी आमदनी दो सौ 'दिरहम' से कम होती थी । (किताबुल ख़िराज़, इमाम यूसुफ़ *(रह॰)*)
5. जिज़्या के बदले उनकी संपत्ति को नीलाम नहीं किया जा सकता । हज़रत अली *(रज़ि॰)* का आदेश है कि 'ख़िराज' में उनका गधा या उनकी गाय या उनके कपड़े न बेचना । एक अन्य अवसर पर अपने गवर्नर को भेजते समय हज़रत अली *(रज़ि॰)* ने फ़रमाया —

   "उनके जाड़े-गर्मी के कपड़े और उनके खाने का सामान और उनके जानवर जिनसे वे खेती-बाड़ी करते हैं, 'ख़िराज' वुसूल करने की ख़ातिर न बेचना । न किसी को 'दिरहम', वुसूल करने के लिए कोड़े मारना न किसी को खड़ा रखने कि सज़ा देना और न 'ख़िराज' के बदले किसी चीज़ को नीलाम करना; क्योंकि हम जो उनके हाकिम बनाए गए हैं तो हमारा काम नरमी से वुसूल करना है । अगर तुमने मेरे आदेश का उल्लंघन किया तो अल्लाह मेरे बजाए तुमको पकड़ेगा और अगर मुझे मेरे आदेश के उल्लंघन की सूचना पहुँची तो मैं तुम्हें पद से अलग कर दूँगा ।" (किताबुल ख़िराज, पृष्ठ-9)

6. जो 'ज़िम्मी' मुहताज और निर्धन हो जाएँ उनको न केवल जिज़्या से माफ़ रखा जाएगा बल्कि उनके लिए सरकारी ख़ज़ाने से 'वज़ीफ़े' (पेंशन) निश्चित किए

जाएँगे । अतः इस्लामी–फ़ौजों के कमांडर हज़रत ख़ालिद *(रज़ि.)* ने 'हैरा वालों को जो शांति-पत्र लिख दिया था, उसके शब्द ये हैं —

> ''मैंने उनके लिए यह अधिकार भी रखा है कि जो व्यक्ति बुढ़ापे के कारण कमज़ोर हो जाए या उसपर कोई मुसीबत आ जाए या वह पहले मालदार था फिर निर्धन हो गया यहाँ तक कि उसके धर्म के लोग उसको दान देने लगें, तो उसका जिज़्या माफ़ कर दिया जाएगा और उसे और उसके बाल-बच्चों को सरकारी ख़ज़ाने से ख़र्च दिया जाएगा ।''
>
> (किताबुल ख़िराज, पृष्ठ 75)

इसके अलावा अन्य बुहत-सी छूट जिज़्या के संबंध में इस्लामी हुकूमत ने दी हैं । उदाहरणतः अगर कोई 'ज़िम्मी' मर जाए और उसके हिसाब में जिज़्या का शेष देना बाक़ी हो तो वह उसकी जायदाद से वुसूल नहीं किया जाएगा और न उसके वारिसों से वुसूल किया जाएगा । (किताबुल ख़िराज, पृष्ठ-70)

फिर 'ज़िम्मी' फ़ौजी सेवाओं से विमुक्त हैं, उनकी जान व माल और संपत्ति की रक्षा की ज़िम्मेदारी इस्लामी हुकूमत के कर्त्तव्यों में सम्मिलित है । अगर इस्लामी हुकूमत उनकी रक्षा न कर सके तो फिर वह राशि जो 'जिज़्या' के नाम से प्राप्त की थी, लौटानी होगी । इसके सुबूत के लिए शहर 'हमस' की सुप्रशंसित घटना इतिहास के पन्नों में सुरक्षित है ।

शहर 'हमस' की ऐतिहासिक घटना

शहर हमस में मुसलमानों ने अपनी विजित-प्रजा से साल भर का जिज़्या वुसूल कर लिया था लेकिन जब संयोग से छः महीने बाद किसी ज़रूरत से उन्हें शहर छोड़कर दूसरी जगह जाना पड़ा, तो हज़रत अबू उबैदा *(रज़ि.)* ने अपने गवर्नरों को लिखा कि जो कुछ 'जिज़्या' व 'ख़िराज' तुमने ज़िम्मियों से वुसूल किया है, उन्हें लौटा दो और उनसे कहो —

> ''अब हम तुम्हारी रक्षा करने से विवश हैं इसलिए हमने जो माल तुम्हारी रक्षा के बदले में वुसूल किया था उसे वापस करते हैं ।''

सरकारी ख़ज़ाने में आई हुई रक़म को इस तरह वापस देना विश्व के इतिहास में आश्चर्य जनक घटना थी ।

मुसलमानों की इसी सत्यनिष्ठा का परिणाम था कि उनके जाने के बाद 'हमस' के ईसाई व यहूदी रोते थे और कहते थे कि —''खुदा करे तुम लोग जल्दी वापस आ जाओ । हमें तुम्हारी हुकूमत की इनसाफ़पसन्दी उस अत्याचार के मुक़ाबले में अधिक प्रिय है जिसमें हम फँसे हुए थे । 'हिरक़्ल' की सेनाएँ फिर आ जाएँगी और हमें अपना ग़ुलाम बना लेंगी । हम फिर उसी दुर्व्यवहार और निर्दयता के दलदल में फँस जाएँगे ।''

इस बयान से स्पष्ट है कि ग़ैर-मुस्लिम प्रजा मुसलमानों के शासन-काल को और उनकी उदारता के सिद्धान्तों को किस क़द्र ईश्वरीय कृपा समझती थी । इससे पहले 'सासानियों' ने जो टैक्स लगाया था वह सासानी प्रजा के टैक्स से दुगना होता था और इसके औचित्य पर 'शाह सापर-द्वितीय' ने कहा था कि — ''लड़ाई हमें लड़नी पड़ती है और ये मज़े से बैठे रहते हैं फिर टैक्स दुगना क्यों न अदा करें ।''

— "Introduction to the History of the Assyrian Church—" Wrigram.

सामाजिक स्वतंत्रता और ग़ैर-मुस्लिम

सामाजिक स्वतंत्रता

इनसान दुनिया में आता है तो उसके, दूसरे इनसानों से सम्बंध पैदा हो जाते हैं। इन्हीं सह-सम्बंधों के आधार पर इनसान पर कुछ अधिकार एवं कर्त्तव्य लागू होते हैं । मनुष्य के जीवन में इन अधिकारों एवं कर्त्तव्यों का बड़ा महत्त्व है । संसार के सुख-शांति और इनसान की ख़ुशहाली की निर्भरता भी अधिकारों और कर्त्तव्यों के सही अनुपालन पर है । इस्लाम इनके महत्व को पूरी तरह महसूस करता है । इसी लिए वह ऐसा समाज अस्तित्व में लाना चाहता है कि जिससे सम्पूर्ण मानव जाति में परस्पर भलाई, सहानुभूति और प्रेम की भावनाएँ पलें-बढ़ें । इसी लिए वह इस्लामी हुकूमत की सीमाओं में रहनेवाले ग़ैर-मुस्लिमों के साथ भी समानता और सहयोग के मूल्यों को समुन्नति देता है । उनको हर प्रकार की सामाजिक स्वतंत्रता प्रदान करता है, जिसके कारण उन्हें ऐसी-ऐसी आसानियाँ और मर्तबे भी हासिल हैं जो स्वयं मुसलमानों को भी प्राप्त नहीं हैं ।

शराब का कारोबार

उदाहरणार्थ इस्लाम ने शराब को पूरी तरह हराम (अवैध) ठहराया है और इसके पीनेवाले के लिए ही नहीं इसका कारोबार करनेवाले तक के लिए सख़्त सज़ा का प्रावधान किया है । किन्तु इस्लाम की ओर से ग़ैर-मुस्लिमों पर शराब पीने या शराब का कारोबार करने पर कोई प्रतिबन्ध नहीं । वे इस्लामी शासन क्षेत्र में रहते हुए इसका कारोबार करते रहे हैं । यह उनका वैयक्तिक मामला माना गया है । इसलिए इस्लामी क़ानून उनपर प्रभावी नहीं किया जाएगा । बदाइअ में है —

> "जो बस्तियाँ और स्थान, मुसलमानों की बस्तियों में से नहीं हैं, उनमें ज़िम्मियों को शराब और सुअर बेचने और सलीब निकालने और शंख बजाने से नहीं रोका जाएगा ।" (बदाइअ, खण्ड-7, पृ० 113)

सुअर-मांस का व्यापार

बदाइअ की ऊपर लिखी इबारत से यह भी स्पष्ट है कि ग़ैर-मुस्लिम सुअर के मांस का व्यापार कर सकते हैं। उसे इधर-उधर ले जा सकते हैं और उनका धर्म जिन चीज़ों को हलाल कहता है, उन्हें वे रुचि से खाएँ-पिएँ। इस्लामी शासन उनकी भावनाओं का आदर करते हुए उनको उन चीज़ों के प्रयोग से रोक नहीं सकता। यहाँ तक कि यदि कोई मुसलमान किसी ग़ैर-मुस्लिम के सुअर को मार डाले, तो इस्लामी विधान के अनुसार उसे अर्थदण्ड अदा करना होगा और ग़ैर-मुस्लिम का जितना नुक़सान हुआ है उसे उसकी क्षतिपूर्ति करनी पड़ेगी। दीवानी क़ानून में ज़िम्मी और मुसलमान के बीच पूर्ण समानता है। हज़रत अली *(रज़ि॰)* का इरशाद है —

"अम्वा-लु हुम क-अम वालिना" यानी उनके मालों की वैसी ही रक्षा होनी चाहिए, जैसी मुसलमानों के माल की होती है।

दुर्रुल मुख़्तार में है —

> "मुसलमान उसकी शराब और उसके सुअर की क़ीमत अदा करेगा, यदि वह उसको नष्ट कर दे।" (भाग-3 पृ॰ - 273)

दुर्रुल मुख़्तार ही की एक धारा यह है —

> "ज़िम्मी को ज़बान या हाथ-पाँव से तकलीफ़ पहुँचाना, उसको गाली देना, मारना-पीटना या उसकी पीठ पीछे बुराई करना उसी तरह अवैध है, जिस तरह मुसलमान के प्रति अवैध है।"
>
> (भाग 3. पृ॰ 272)

शंख बजाना

घण्टा बजाना और शंख (नाक़ूस) बजाना इस्लामी शरीअत (विधान) के अनुसार एक अवैध कर्म है। लेकिन इसके बावजूद सामाजिक उदारता के अधीन इस्लामी शासन में ग़ैर-मुस्लिमों की आस्थाओं और परम्पराओं का ध्यान रखा जाता है और पूरी इस्लामी तारीख़ (इतिहास) में कोई एक मिसाल भी ऐसी प्रस्तुत नहीं की जा सकती कि जिसमें किसी मुसलमान शासक ने इन बातों पर प्रतिबंध लगाया हो।

क़ुरआन के आदेश

> "ऐ नबी ! अपने पालनहार के मार्ग की ओर बुलाओ तत्त्वदर्शिता और उच्च सदुपदेश के साथ, और लोगों से तर्क-वितर्क करो ऐसी शैली के साथ, जो सर्वश्रेष्ठ हो ।" (क़ुरआन, 16:125)

धांधली, कठहुज्जती, ठठोलबाज़ी और क्रोधांधता, ये सभी नैतिक बुराइयों में से हैं । इस्लाम इन बुराइयों से अपने अनुयायियों को बचाना चाहता है । इसी लिए उसकी नसीहत है कि विरोधियों के साथ भले तरीक़े से वार्ता करो, इतना ही नहीं इससे भी आगे बढ़कर हुक्म है कि उनके साथ न्याय और इनसाफ़, सुआचरण और अच्छे ढंग से पेश आओ । अत: एक स्थान पर क़ुरआन में फ़रमाया गया है —

> "अल्लाह तुम्हें इससे नहीं मना करता कि तुम उन लोगों के साथ नेकी और इनसाफ़ का आचरण अपनाओ, जिन्होंने दीन धर्म के विषय में तुम से जंग नहीं की है और तुम्हें तुम्हारे घरों से नहीं निकाला है । अल्लाह इनसाफ़ करनेवालों को पसन्द करता है ।"
>
> (क़ुरआन, 60 : 8)

एक और जगह फ़रमाया—

> "निस्संदेह अल्लाह की रहमत उपकार करनेवालों के निकट है ।"
>
> (क़ुरआन, 7 : 56)

न्याय और इनसाफ़

इन आयतों में अल्लाह तआला ने मुसलमानों को अपने विरोधियों के साथ न्याय और इनसाफ़ और उत्तम आचरण अपनाने का हुक्म दिया है और मात्र न्याय और इनसाफ़ और अच्छे मामलों ही पर बस नहीं किया, बल्कि उपकार की प्रेरणा भी दिलाई । यह सब जानते हैं कि उपकार न्याय से बढ़कर होता है, क्योंकि इसका सम्बंध दया व अनुकम्पा, कृपा, शान्ति व प्यार और अच्छाई व भलाई जैसे महत्वपूर्ण मूल्यों से है । दया व अनुकम्पा का सबसे ज्वलंत उदाहरण 'फ़त्ह मक्का' है । वह ऐसा दिन था कि इस्लाम और मुसलमानों के घोर दुश्मन बेबस होकर हाथ जोड़े खड़े थे, इनमें वे लोग भी थे जिनकी पूरी उम्र इस्लाम के विरोध और मुसलमानों को

यातनाएँ देने में व्यतीत हुई थी, ऐसे लोग भी थे, जिन्होंने मक्का की ज़िन्दगी में हज़रत मुहम्मद *(सल्ल॰)* के रास्ते में काँटे बिछाए थे, आप *(सल्ल॰)* के ऊपर कूड़ा फेंका था, आप *(सल्ल॰)* को क़त्ल करने के लिए आपके घर का घेराव किया था। लेकिन इन तमाम तकलीफ़ों और कष्ट पहुँचाए जाने के बावजूद आप *(सल्ल॰)* ने फ़रमाया — "आज तुम पर कोई पकड़ नहीं । जाओ, तुम सब आज़ाद हो ।" हालाँकि अरब के क़ानून के अनुसार अगर इनकी बोटी-बोटी कर दी जाती तो कोई एतिराज़ करेनेवाला न था, लेकिन आप *(सल्ल॰)* ने आम माफ़ी की घोषणा करके इतिहास में सुआचरण और उपकार की एक प्रज्वलित मिसाल क़ायम की ।

• एक हदीस है : हज़रत अबू-हुज़ैफ़ा *(रज़ि॰)* कहते हैं कि रसूल *(सल्ल॰)* ने एक बार फ़रमाया — "तुमसे पहले जो मुसलमान गुज़रे हैं उनमें से एक मुसलमान के पास (मरने के बाद) फ़रिश्ते पहुँचे ।" उन्होंने उससे पूछा — "तुमने दुनिया में कोई अच्छा काम किया है ?" उसने कहा, "नहीं ।" फ़रिश्तों ने कहा —"याद करो, कोई काम किया हो तो बताओ !"

उसने कहा, "मैं लोगों को क़र्ज़ दिया करता था और अपने कर्मचारियों को हिदायत करता था कि क़र्ज़दार तंगी में ग्रस्त होने के कारण नियत समय पर क़र्ज़ वापस न कर सके तो उसे अतिरिक्त समय दे देना और क़र्ज़दार क़र्ज़ वापस करने का सामर्थ्य रखता हो तो उसके साथ नम्र भाव से पेश आना ।"

> अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) फ़रमाते हैं कि अल्लाह तआला ने मात्र इस ख़ूबी की वजह से उसे जन्नत में दाख़िल कर दिया ।
>
> (हदीस : बुख़ारी)

क्षमा व सहनशीलता

क्षमा व अनुग्रह, प्रेम व स्नेह और सद्व्यवहार की गणना उच्चकोटि के शिष्टाचार में होती है । इस्लाम ने हमेशा भलाई व अच्छाई, प्रेम व भाईचारा और जनसेवा की प्रेरणा अपने अनुयायियों को दी है और ख़ास तौर से मानव-अधिकारों की अदायगी को तो उपासना का अंग क़रार दिया है । क़ुरआन व हदीस में इस तरह सैकड़ों आदेश मिलते हैं जिनसे शिष्टाचार और सद्व्यवहार के महत्व का अंदाज़ा होता है ।

अच्छे शिष्टाचार की प्रेरणा

अल्लाह का फ़रमान है —

> "मुसलमानो !, तुम्हें माल और जान दोनों की आज़माइश पेश आएगी और तुम किताबवालों और मुशरिकों से बहुत-सी कष्टप्रद बातें सुनोगे, यदि तुम इन सब हालात में धैर्य और ईश-भय (खुदातरसी) के पथ पर क़ायम रहो, तो यह बड़े साहस का काम है ।" (क़ुरआन, 3:186)

अर्थात् उनके व्यंग व कटाक्ष, उनके आक्षेप, उनके उद्दण्डतापूर्ण वचन और उनकी झूठी बकवास से प्रभावित व धैर्यहीन होकर तुम ऐसी बातों पर न उतर आओ जो सच्चाई और न्याय, गौरवपूर्णता व सभ्यता और उच्च शिष्टाचार के विरुद्ध हों । शिष्टाचार-क्षेत्र के ये वे नियम हैं जो इनसान के जीवन के उच्च लक्ष्य की ओर उसका मार्गदर्शन करते हैं । इनके बिना न ईमान संभव होता है, न इस्लाम । इसी लिए हज़रत मुहम्मद *(सल्ल०)* ने भी शिष्टाचार और सत्कर्म पर बड़ा बल दिया है । वास्तव में आप *(सल्ल०)* अल्लाह के रसूल थे और आप *(सल्ल०)* को अल्लाह ने शिष्टाचार और आध्यात्मिक सुधार की पूर्णता हेतु संसार में भेजा था । स्वयं रसूल *(सल्ल०)* का इरशाद है —

रसूल *(सल्ल०)* का फ़रमान

> "मैं अल्लाह की तरफ़ से इसलिए भेजा गया हूँ कि श्रेष्ठ-व्यवहार की शिक्षा दूँ और उन्हें उच्चतम श्रेणी तक पहुँचा दूँ ।" (बुख़ारी)

और सभ्यव्यवहार (शिष्टाचार) के महत्व व बड़ाई को बयान करते हुए फ़रमाया —

> "तुममें सबसे अच्छे लोग वे हैं, जिनके व्यवहार सबसे अच्छे हैं ।" (बुख़ारी)

एक दूसरे स्थान पर फ़रमाया —

"क़ियामत के दिन कर्म-तुला में सबसे अधिक भार अच्छे व्यवहार का होगा।" (मुत्तफ़क़ अलैहि)

विभिन्न अवसरों पर हज़रत मुहम्मद *(सल्ल.)* ने अच्छे शिष्टाचार के सिलसिले में इरशाद फ़रमाया है —

- इनसान के लिए ज़रूरी है कि सारे आदमियों से प्रेम रखे और प्रत्येक भले व बुरे के साथ अच्छाई करे।
- किसी की आवश्यकता पूरी करनेवाला ऐसा है कि मानो पूरी उम्र उसकी सेवा में गुज़ारी।
- शिर्क के बाद जघन्य अपराध किसी (निर्दोष) को कष्ट पहुँचाना है।
- ईमान के बाद श्रेष्ठतम भलाई अल्लाह की मख़लूक़ को आराम पहुँचाना है।
- जो व्यक्ति अल्लाह और आख़िरत पर ईमान रखता हो वह अपने पड़ोसी को कोई तकलीफ़ न दे।

पड़ोसियों के अधिकारों के सम्बंध में तो हज़रत मुहम्मद *(सल्ल.)* ने साफ़-साफ़ फ़रमाया —

"वह मुसलमान नहीं जो स्वयं पेट भरकर खाए और पास में रहनेवाला उसका पड़ोसी भूखा रहे।"

एक बार बड़े गुस्से में आप *(सल्ल.)* ने फ़रमाया —

"अल्लाह की क़सम! वह (वास्तव में) मोमिन नहीं, अल्लाह की क़सम! वह मोमिन नहीं।"

निवेदन किया गया — "ऐ अल्लाह के रसूल! कौन मोमिन नहीं ?"

फ़रमाया —" वह मोमिन नहीं जिसका पड़ोसी उसकी शरारतों (उद्दण्डताओं) से अम्न में नहीं।

• किसी सहाबी ने हज़रत मुहम्मद *(सल्ल॰)* से निवेदन किया कि ऐ अल्लाह के ूल! फ़लाँ औरत के बारे में बयान किया जाता है कि वह बहुत नमाज़ें पढ़ती है, ुत रोज़े रखती है और ख़ूब दान-पुण्य करती है। लेकिन अपनी ज़बान की तीव्रता अपने पड़ोसवालों को कष्ट भी पहुँचाती है और उनसे लड़ती-झगड़ती भी ती है।

नबी *(सल्ल॰)* ने फ़रमाया — "वह जहन्नम (नरक) में जाएगी।"

फिर उन्हीं सहाबी ने एक दूसरी औरत के सम्बंध में निवेदन किया — "ऐ ल्लाह के रसूल! अमुक औरत के बारे में कहा जाता है कि वह नमाज़ रोज़ा और रात (दान-पुण्य) तो बहुत नहीं करती, यानी नफ़्ल नमाज़ें, नफ़्ल रोज़े और दान ादि पहली औरत की तुलना में कम करती है, लेकिन पड़ोसियों को अपनी ज़बान कभी कष्ट नहीं पहुँचाती।"

नबी *(सल्ल॰)* ने फ़रमाया — "वह जन्नत में जाएगी।"

(मिश्कात, रिवायत अबू हुरैरह)

ड़ोसियों के अधिकार

इस हदीस से ज्ञात होता है कि इस्लाम ने पड़ोसियों के हक़ों की कितनी मायत की है और जहाँ माँ-बाप, पति-पत्नी और अन्य रिश्तेदारों से सद्व्यवहार का ादेश दिया है, वहीं पड़ोसियों के बारे में भी अच्छे बर्ताव की ताकीद की है।

> "और पड़ोसी रिश्तेदार से, अपरिचित पड़ोसी से, पहलू के साथी से अच्छे शिष्टाचार से पेश आओ।" (क़ुरआन, 4:36)

इस आयत में तीन प्रकार के पड़ोसी गिनाए गए हैं :

• वल-जारि-ज़िल-क़ुरबा — ऐसे पड़ोसी जिनसे पड़ोस के अलावा कोई शेष सम्बंध व समीपता भी हो।

• वल-जारिल-जुनुबि — ऐसे पड़ोसी जिनके साथ रिश्तेदारी का नहीं, मात्र ड़ोसी का सम्बंध हो, जिसमें ग़ैर-मुस्लिम पड़ोसी भी सम्मिलित हैं।

• वस्साहिबि-बिल-जम्बि — ऐसे लोग, जिनका कहीं संयोगात्मक रूप साथ हो जाए। उदाहरणार्थ सफ़र के साथी, या साथ रहकर काम करनेवाले साथी एक ही कार्यालय में रहकर सेवारत कर्मचारी। इसमें भी मुस्लिम या ग़ैर-मुस्लिम कोई भेद-भाव नहीं है और इन तीनों प्रकार के पड़ोसियों के साथ सद्व्यवहार अ अच्छा आचरण अपनाने का इस्लाम हमें आदेश देता है।

अच्छा व्यवहार अपनाने की आम प्रेरणा

• हज़रत मुहम्मद *(सल्ल॰)* फ़रमाते हैं कि क़ियामत के दिन अल्लाह तआ फ़रमाएगा —

> "ऐ आदम की संतान! मैं बीमार हुआ, तूने मेरी इयादत (देख-भाल) नहीं की?" वह कहेगा: "ऐ मेरे रब: मैं आपकी इयादत कैसे करता, आप तो सारे संसार के रब हैं?" वह फ़रमाएगा: "क्या तुझे मालूम नहीं, मेरा अमुक बन्दा बीमार हुआ तो तूने उसकी इयादत नहीं की, क्या तुझे मालूम नहीं कि अगर तू उसकी इयादत करता तो, मुझे उसके पास पाता?"
>
> "ऐ आदम की संतान! मैं भूखा था, तूने मुझे खाना नहीं खिलाया।" वह कहेगा: "ऐ रब। मैं आपको खाना कैसे खिलाता। आप तो सारे जगत् के पालनहार हैं।" वह फ़रमाएगा: "क्या तुझे ज्ञात नहीं कि मेरे अमुक बन्दे ने तुझसे खाना माँगा तो तूने उसे खाना नहीं दिया। अगर तू उसे खाना खिलाता तो मुझे उसके पास पाता।"
>
> "और ऐ आदम के बेटे! मैंने तुझसे पानी माँगा तो तूने मुझे पानी नहीं पिलाया।" वह कहेगा: ऐ मेरे पालनहार! "आप तो सर्व जगत् के पालक हैं। मैं आपको पानी कैसे पिलाता?" अल्लाह फ़रमाएगा: 'मेरे अमुक बन्दे ने तुझसे पानी माँगा, तू अगर उसे पानी पिलाता तो मुझे उसके पास पाता।" (हदीस— मुसलिम)

सारांश यह है कि खुदा की मख़्लूक़ (सृष्टि) की सेवा और उनकी ख़बरगीरी के म का इस्लाम में बहुत महत्व और प्रतिष्ठा है और इसमें मुस्लिम व ग़ैर-मुस्लिम कोई भेद-भाव नहीं, बल्कि भूखे को खिलाना, मरीज़ की इयादत (देख-भाल) ना और प्यासे को पानी पिलाना, चाहे कोई भी हो, अल्लाह की समीपता और य का साधन है।

एक स्थान पर हज़रत मुहम्मद *(सल्ल.)* ने मोमिन की तारीफ़ इन शब्दों में की है :

> "मोमिन वह है जिससे सारे मनुष्य, चाहे मुस्लिम हों या ग़ैर-मुस्लिम, सुरक्षित रहें।"

अर्थात् मुसलमान दुनिया की एक बहुमूल्य वस्तु है, उसकी मौजूदगी में इनसानी ा व अनुकम्पा की मंदी दुनिया से सामाप्त होनी चाहिए।

मुसलमान नबियों के शिष्टाचार के अनुपालक व संरक्षक होते हैं। उनको खुदा सृष्टि के साथ स्वार्थपूर्ण और भेद-भाव का सुलूक शोभा नहीं देता।

ता-पिता के साथ सद्व्यवहार

सामाजिक क्षेत्र में उदारता की बेहतरीन मिसाल इस्लाम की यह शिक्षा भी है कि पने माता-पिता के साथ चाहे वे मुस्लिम हों या मुशरिक, तुम हर स्थिति में अच्छे वहार से पेश आओ। क़ुरआन पाक में अल्लाह का फ़रमान है —

> "और हमने इनसान को अपने माँ-बाप का अधिकार (हक़) पहचानने की स्वयं ताकीद की है। उसकी माँ ने कठिनाई पर कठिनाई उठाकर उसे अपने पेट में रखा और दो वर्ष उसका दूध छोड़ने में लगे। (इसी लिए हमने उसको नसीहत की) मेरे प्रति कृतज्ञता दिखलाओ और अपने माँ-बाप के प्रति भी। अन्ततः मेरी ही ओर तुझे पलटना है, लेकिन अगर वे तुझपर दबाव डालें कि मेरे साथ तू किसी ऐसे को सम्मिलित करे (अर्थात् शिर्क करे) जिसे तू नहीं जानता तो उनकी बात हरगिज़ न मान और संसार में उनके साथ शुभ-व्यवहार करता रह।" (क़ुरआन, 31:14-15)

अल्लाह तआला तत्त्वदर्शी और सर्वज्ञ है । वह इनसान की प्रकृति को समझत है और जानता है कि माता-पिता और संतान का सम्बंध बड़ा गहरा होता है । कि ईमान का मामला भी बहुत नाज़ुक है । अल्लाह ने दोनों बातों की सूक्ष्मता को साम रखते हुए ताकीद की है कि अपने माता-पिता का, इस सांसारिक जीवन में, चाहे मुस्लिम हों या ग़ैर-मुस्लिम, हर प्रकार का ख़याल रखो । उनकी भावनाओं का सम्मा करो । उनके साथ प्यार से पेश आओ । आवश्यकता के समय उनकी सहायता करो वे अगर बुढ़ापे को पहुँच जाएँ तो उनको 'उफ़' तक मत कहो, क्योंकि उन्होंने तुम्हा परवरिश में बड़े दुख झेले हैं । लेकिन इसी के साथ, यह हक़ उनको नहीं पहुँचत कि आदमी अपने ज्ञान के विरुद्ध उनका अंधानुसरण करे । यानी उदारता का यह अ नहीं है कि आदमी उनके अन्धे अनुसरण व आज्ञापालन में अपना पारलौकिक जीव ख़राब करे । उदारता उसी सीमा तक अच्छी है, जहाँ तक ईमान क्षतिग्रस्त न होता हे और अगर इस प्रकरण में धार्मिक आस्थाएँ प्रभावित होती हों तो फिर उनका अनुसरण व पालन उचित नहीं, किन्तु मानवीय अपेक्षाओं के मुताबिक़ उनकी सेवा बराबर करते रहना चाहिए ।

- हज़रत 'अबू हुरैरह' *(रज़ि.)* की माँ कट्टर इस्लाम दुश्मन थीं । हज़रत मुहम्मद *(सल्ल.)* को हर समय बुरा-भला कहती थीं । अबू हुरैरह *(रज़ि.)* ने स्वयं आप *(सल्ल.)* से शिकायत की तो आप *(सल्ल.)* ने फ़रमाया कि —"तुम उनकी इताअत (आज्ञानुपालन) और सेवा करते रहो । मैं उनके लिए सन्मार्ग की दुआ करता हूँ ।"

- हज़रत 'अस्मा' *(रज़ि.)* की ग़ैर-मुस्लिम माँ उनसे मिलने मक्का से आईं । हज़रत अस्मा *(रज़ि.)* ने हज़रत मुहम्मद *(सल्ल.)* से पूछा, "मिलूँ या न मिलूँ ।" आप *(सल्ल.)* ने फ़रमाया, "मिलो भी और उनके साथ अच्छा सुलूक भी करो ।"

(हदीस—मुस्लिम)

अहले-किताब के साथ खाना-पीना

यह भी इस्लाम की सर्वधर्म-सम्मान और उदारता की एक सर्वश्रेष्ठ मिसाल है कि उसने अहले-किताब के खाने-पीने को वैध रखा । उनके ज़िब्ह को हलाल ठहराया और उनकी औरतों से शादी-ब्याह करने की अनुमति दी । अतएव, सूरा माइदा में

"किताबवालों का खाना तुम्हारे लिए वैध (हलाल) है, तुम्हारा खाना उनके लिए और सुरक्षित औरतें भी तुम्हारे लिए हलाल हैं, चाहे वे ईमानवालों के गिरोह से हों या उन क़ौमों में से जिनको तुमसे पहले किताब दी गई थी ।" (क़ुरआन, 5:5)

उदारता के साथ आपस में मिल-बैठकर खाना-पीना और शादी-ब्याह करना सम्बंध की बढ़ोत्तरी और अच्छे समाज के स्थायित्व का एक उत्तम साधन है । संसार में इससे अधिक सरल और उत्तम कोई ऐसी विधि नहीं है, जो दो क़ौमों को निकट कर सके या जिसकी वजह से दो भिन्न आस्था रखनेवाली क़ौमों में स्नेह और प्रेम का वातावरण पैदा हो सके ।

इस्लाम की यह सर्वश्रेष्ठ विशिष्टता है कि उसने वर्ण-वंश और जाति-वतन के भेदभाव को समाप्त करके सारे इनसानों को एक आदम की संतान और एक बिरादरी का सदस्य समझा और साफ़-साफ़ कहा —

"ऐ लोगो ! हमने तुम सबको एक नर-नारी से पैदा किया है ।"
(क़ुरआन, 49:13)

इसलिए चाहे कोई पूर्व में रहता हो या पश्चिम में, काले रंग का हो या गोरे रंग का, ख़ूबसूरत हो या बदसूरत, इनसान होने के आधार पर सब एक समान हैं । इसलिए उनके साथ खाने-पीने और शादी-ब्याह करने में किसी प्रकार की छूत-छात नहीं होनी चाहिए । इससे प्रेम बढ़ता है । एक-दूसरे के विचारों को समझने और ख़ुद को समझने और समझाने का अवसर मिलता है और दूसरे धर्मवालों को इस्लाम के शिष्टाचार और आदेशों से वास्ता पड़ता है । दाम्पत्य सहभागिता व सहायता से सभ्यता में चार चांद लगते हैं तथा पति-पत्नी के बीच अधिकारों व कर्त्तव्यों की अदायगी से सामाजिक उदारता की भावना उभरती है, किन्तु यह सब उन वैध तरीक़ों से होनी चाहिए, जिन्हें इस्लाम ने निर्धारित कर दिया है ।

मुस्लिम और ग़ैर-मुस्लिम औरत

यह बात भी याद रखने की है कि जिस तरह मुस्लिम औरत से दाम्पत्य का सम्बंध स्थापित करने के पश्चात् एक मुसलमान पर जिन अधिकारों और कर्त्तव्यों की अदायगी अनिवार्य होती है, उसी तरह ईसाई या यहूदी औरत से भी विवाह करने के बाद वह उन अधिकारों व कर्त्तव्यों का पाबन्द है । अर्थात् रोटी-कपड़ा और महर (स्त्री-धन) में जो एक मुस्लिम औरत का अधिकार है वही एक ग़ैर-मुस्लिम औरत का अधिकार है । वह उनके लिए इस्लामी न्यायालय का द्वार उसी तरह खटखटा सकती है जिस तरह मुस्लिम औरत ।

मतलब यह कि इस्लाम में किताबिया बीवी का पूरा सम्मान किया गया है । मुसलमान के निकाह में आने के बाद वह अगर गिरजाघर जाए और ईश्वरोपासना करे जिसमें 'शिर्क' न हो, तो उसको इसकी अनुमति है । वह ऐसा कर सकती है ।

अच्छे शिष्टाचार की सामान्य घटनाएँ

हज़रत मुहम्मद *(सल्ल॰)* की ज़िन्दगी मुसलमानों के लिए एक व्यावहारिक नमूना थी और आप *(सल्ल॰)* का हर छोटा-बड़ा काम 'सुन्नत' (आदर्श) का दरजा रखता था । हर मुसलमान प्रयास करता था कि आप *(सल्ल॰)* के आदेशों पर चले । सहाबा *(रज़ि॰)* की जीवनी का इस दृष्टि से अध्ययन किया जाए तो इतिहास का अति उज्ज्वल अध्याय खुलकर सामने आता है ।

• हज़रत अम्र बिन आस *(रज़ि॰)* ने मिस्र की जंग में 'ब्लीस' पर हमला किया और मिस्र के बादशाह मक़ूक़स की बेटी जिसका नाम अर्मानूसा था, गिरफ़्तार होकर आई, तो उन्होंने हज़रत उमर फ़ारूक़ *(रज़ि॰)* के हुक्म से उसको बड़े इज़्ज़त व सम्मान के साथ मक़ूक़स के पास भेज दिया । और अधिक एहतियात के उद्देश्य से एक सरदार भी उसका सहयात्री कर दिया ताकि वह पूरी सुरक्षा के साथ उसे वहाँ पहुँचा आए । (इब्ने जरीर, तबरी, पृ॰-192)

• हज़रत उसमान *(रज़ि॰)* की आदत थी कि रात को उठकर वुज़ू का पानी स्वयं लेते थे और नौकर को नहीं जगाते थे । इसकी वजह पूछी तो फ़रमाया — "रात उनके आराम करने के लिए है, काम करने के लिए नहीं ।"

• चौथे ख़लीफ़ा हज़रत अली *(रज़ि॰)* ने अपने शासनकाल में ख़्वारिज (हज़रत अली के विरोधीगणों) के अत्यन्त अपशब्दों को ठण्डे दिल से बर्दाश्त किया। एक बार पाँच ख़्वारिज गिरफ़्तार करके दरबार में हाज़िर किए गए जो खुलेआम आपको गालियाँ दे रहे थे और उनमें से एक ने तो खुल्लम-खुल्ला कहा कि — "ख़ुदा की क़सम, मैं अली को क़त्ल कर दूँगा।" लेकिन उत्तम शिष्टाचार का नमूना देखिए कि हज़रत अली *(रज़ि॰)* ने उनको छोड़ दिया और अपने आदमियों से फ़रमाया, "उनका मात्र मौखिक विरोध कोई ऐसा अपराध नहीं है कि जिसके कारण उनको दण्ड दिया जाए।" (सीरते अली *(रज़ि॰)*)

• 'हज़रत अली बिन हुसैन' *(रज़ि॰)*, जो इमाम ज़ैनुल आबिदीन *(रज़ि॰)* के नाम से सुपरिचित हैं, एक दिन मस्जिद से निकले। बीच रास्ते में एक व्यक्ति मिला जो सहसा आपको गालियाँ देने लगा। आपके गुलाम और नौकरगण उसकी ओर लपके कि उसको बदतमीज़ी का दण्ड दें। लेकिन आपने रोक दिया और उस व्यक्ति को संबोधित कर के कहा —

> "मेरे जो हालात तुमसे छिपे हैं, वह उससे कहीं अधिक हैं जो तुम्हें मालूम हैं। यदि तुम्हारी कोई आवश्यकता ऐसी हो जो मैं पूरी कर सकता हूँ, तो बताओ।"

गालियाँ देनेवाला व्यक्ति यह सुनकर बहुत शर्मिन्दा हुआ। इमाम ज़ैनुल आबिदीन ने अपना कुर्ता उतारकर उसको दे दिया और एक हज़ार दिरहम नक़द अता किये। इस उत्तम वैरशुद्धि का यह प्रभाव पड़ा कि वह व्यक्ति पुकार उठा —"मैं गवाही देता हूँ कि आप अल्लाह के रसूल *(सल्ल॰)* की औलाद से हैं।"

ग़ैर-मुस्लिम चिकित्सकों की सरपरस्ती

'हारिस बिन कलदा' अरब का प्रसिद्ध चिकित्सक अल्लाह के रसूल *(सल्ल॰)* के पुनीत काल में मक्का में था और उसने ईरान के विजेता हज़रत सअद बिन अबी-वक़्क़ास *(रज़ि॰)* का इलाज फ़तह मक्का के मौक़े पर किया था। आप *(सल्ल॰)* ने स्वयं सअद को मशविरा दिया —

"सक़ीफ़ क़बीलावाले हारिस बिन कलदा से इलाज कराओ क्योंकि वह चिकित्सक है ।" (हदीस-अबू दाऊद)

और दूसरी ओर जैसा कि हाफ़िज़ इब्ने हजर ने इब्ने मन्दा के हवाले से लिखा है कि स्वयं हारिस इब्ने कलदा को भी रसूल *(सल्ल०)* ने आदेश दिया कि —

"सअद जिस मर्ज़ में फँसे हैं, तुम उसका इलाज करो । "

(असाबा, खण्ड-1, पृ० 302)

इस्लाम के पैग़म्बर हज़रत मुहम्मद *(सल्ल०)* की इसी कार्यशैली के आधार पर बाद के युग में भी ऐसे ग़ैर-मुस्लिम कुशल और योग्य लोगों की सरपरस्ती की गई ।

• यह्या नह्वी को, जिसका असल नाम मस्त्यूस था, चिकित्सा और दर्शन व साहित्य में विशेष स्थान प्राप्त था । उन की विद्वता और विवेक की शोहरत सुनकर हज़रत अम्र-बिन-अल-आस *(रज़ि०)* ने उन्हें बुलाया । उनका विशेष सम्मान किया और अपने पास रखा । (तब्क़ातुल उत्बा बिन अबी असबईया)

• इब्ने उसाल को, जो ईसाई था, अमीर मुआविया *(रज़ि०)* ने अपनी हुकूमत के एलान के बाद दमिश्क़ में अपना विशेष चिकित्सक नियुक्त किया । उसके साथ वे बहुत अच्छा व्यवहार करते थे और उसके बहुत श्रद्धावान थे । सुबह-शाम उससे बातचीत करते थे । (तब्क़ातुल उत्बा, खण्ड-1,पृ०-116)

और भी कई ग़ैर-मुस्लिम चिकित्सकों का उल्लेख विभिन्न किताबों में मिलता है । उदाहरणार्थ — तियाज़ूक़, फ़रात जिनपर मुस्लिम शासकगण और सरदार असाधारण आस्थावान् रहा करते थे और सदा उन्हें अनुग्रहीत करते रहते थे और प्रत्येक कला-कुशल को पुरस्कार व इनाम प्रदान किया करते थे ।

इन यथार्थ वृत्तांतों पर ऐसे लोगों को ठण्डे दिल से ग़ौर करना चाहिए जो इस्लाम को एक लड़ाई-झगड़ेवाला धर्म और मुसलमानों को अत्याचारी व बर्बर क़ौम बताकर दुनिया में उनके प्रति घृणा फैलाते रहते हैं ।

दानशीलता

• सभी जानते हैं कि सुलतान सलाहुद्दीन के जितने मोर्चे ईसाइयों के साथ हुए उतने किसी मुस्लिम सुलतान को पेश नहीं आए । अनुमानत: उनके ज़ीवन का 2/3 भाग युद्ध-क्षेत्र में व्यतीत हुआ, किन्तु इस जंगी वातावरण के बावजूद सुलतान के दिल में अत्यन्त नर्मी थी । इसका अनुमान इससे होता है कि सुलतान ने विजय पाने के बाद पराजित ईसाइयों के साथ अत्यन्त सहृदयता का व्यवहार किया, हालाँकि बैतुल मक़दिस और दूसरी जगहों में मुसलमानों का खून पानी की तरह बहाया गया था । स्वयं इतिहासकारों का कथन है कि ईसाई 'क्रुसेडर्स' ने जब बैतुल-मक़दिस को जीता तो मस्जिद अक़सा के दरवाज़ों में घुटने-घुटने ख़ून बह रहा था, किन्तु सन् 587 हिजरी में जब ईसाइयों की संयुक्त सेना ने अक्का पर आक्रमण किया तो संयोगत: फ्रांस का सम्राट और इंग्लिस्तान का सम्राट अक्का आते ही बीमार हो गए । यह ख़बर सुनकर सुलतान स्वयं उनकी मिज़ाजपुरसी के लिए उनके पास पहुँचा और कोहे-लिबनान से बर्फ़ मँगवाकर उनको भेजता रहा और उनके स्वस्थ होने तक इसी तरह प्रतिदिन बर्फ़, मेवे, फल और ठण्डा पानी भेजता रहा ।

(अफ़कार व सियासियात, पृ०-576)

• अंग्रेज़ फ़ौज बैतुल-मक़दिस में सुलतान सलाहुद्दीन के द्वारा घेराव से तंग आ गई तो शांति की याचक हुई । सुलतान ने 'शांति' दे दी और कहा कि सभी अंग्रेज़ चालीस दिन के अन्दर-अन्दर यहाँ से निकल जाएँ । जब इस्लामी फ़ौज ने शहर में प्रवेश किया तो सिपाहियों ने देखा कि अंग्रेज़ अशर्फ़ियों के संदूक़ भरे लिए जा रहे हैं । सुलतान से जाकर कहा कि विजयी सेना ऐसी विजित-संपत्ति (ग़नीमत) से क्यों वंचित की जाती है, तो सुलतान ने कहा —''यह उचित है, क्योंकि हम उन्हें शांति प्रदान कर चुके हैं और वचन-भंग करना हमारी प्रकृति में नहीं ।''

(सवानेह उमरी सलाहुद्दीन अय्यूबी)

इसी तरह जब तिब्रिया का क़िला ईसाइयों से छीना गया तो तराबुलुस (Tripolis) के सरदार रेमण्ड की बीवी सुलतान के क़ाबू में आ गई, मगर सुलतान ने उसे सम्मानपूर्वक उसके पति के पास पहुँचा दिया और किसी भी औरत के नारीत्व पर हाथ नहीं डाला गया और न बच्चे क़त्ल किए गए ।

(अफ़कार व सियासियात, पृ०-576)

मिस्र में सुल्तान सलाहुद्दीन के दौर में ईसाई लोग अच्छे-अच्छे पदों पर नियुक्त थे । सचिव, लेखपाल, रजिस्ट्रार साधारणत: ईसाई होते थे । मिस्टर ब्राउन का कहना है कि सलीबी जंगों के समय बहुत-से ईसाई मुसलमानों के कैम्प में आश्रयी हो गए और मुसलमानों ने उनको आश्रय दिया । उनमें से कुछ तो वापस चले गए और बहुत-से वहीं कर्मचारी हो गए और अपने पूर्वज-धर्म पर क़ायम रहे और उनसे किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं किया गया । इन्हीं घटनाओं के प्रकाश में सर ऑर्नल्ड ने लिखा है कि —

> ''अगर अब्बासी शासन-काल के शासक चाहते तो जिस प्रकार अज़ाबेला फ़र्डिनेण्ड ने हिस्पानिया से इस्लाम को निकाल दिया, लूइस ने फ़्रांस में प्रॉस्टेटैंट ईसाई सम्प्रदाय को अपराधी क़रार दे दिया था, वह भी एशिया-ए-कोचक से ईसाइयत को निकाल बाहर कर देते, लेकिन उन्होंने ऐसा नहीं किया ।''

भारत में मुस्लिम शासन की विशेषताएँ

भारत और मुस्लिम शासक

किताब के इस भाग में हम अपने देश के सम्बंध में कुछ विस्तार से लिखना चाहते हैं, क्योंकि कम या ज़्यादा एक हज़ार साल तक शासक की हैसियत से मुसलमानों का इस देश से वास्ता रहा है। यहाँ की सभ्यता और संस्कृति के निर्माण में उनके जिगर का ख़ून शामिल है, और इतिहास के पृष्ठों पर उनके रौशन कारनामे अंकित हैं तथा जगह-जगह उनके शानदार निर्माणों की प्राचीन इमारतें इस धरती से उनके हार्दिक लगाव की आज भी स्मारक बनी हुई हैं।

इतिहास वास्तव में मानवता की कहानी है जिसके द्वारा प्रसंगयुक्तता और क्रमबद्धता के साथ व्यक्तियों, क़ौमों और समुदायों की कार्यावली हमारे समक्ष आती है। यह प्रसन्नता की बात है कि हिन्दुस्तान का इतिहास समय के फेर-बदल से अभी तक सुरक्षित है और हम उसके दर्पण में उन मुसलमानों के बड़प्पन, दानशीलता और उदारता की समीक्षा कर सकते हैं जो कई सौ साल तक भारत पर शासक रहे।

अध्ययन करते समय यह नहीं भूलना चाहिए कि भारत के मुसलमान शासक इस्लाम का पूर्ण आदर्श नहीं थे, न उनकी हुकूमत इस्लामी हुकूमत थी, फिर भी उन्होंने जो भले काम किए उनपर इस्लाम ही के प्रभाव थे और जो ख़ूबियाँ उन भारत के मुस्लिम शासकों में थीं, वे संसार के दूसरे शासकों में मिलनी दूभर हैं। जिस विनम्रता, विशाल-हृदयता और विशाल-दृष्टिता का प्रमाण अपने कामों से इन मुस्लिम शासकों ने दिया है, उसका दसवाँ भाग भी संसार की कोई दूसरी क़ौम प्रस्तुत नहीं कर सकी है।

किन्तु जैसाकि हमें स्वीकार है कि ये लोग इस्लाम का पूर्ण आदर्श नहीं थे, इसलिए एक हज़ार साल की लम्बी अवधि में उनसे ग़लतियाँ भी घटित हुई हैं। हमारा काम उनकी त्रुटियों पर परदा डालना नहीं है, वरन् दिखाना यह है कि इस्लाम

ने अपने अनुयायीगण का जो बुद्धि-निर्माण किया था कि सारी सृष्टि ख़ुदा का कुटुम्ब है, धर्म में ज़बरदस्ती नहीं है, इनपर भारत में मुस्लिम अनुपालकों ने किस सीमा तक अमल किया और अपनी ग़ैर-मुस्लिम प्रजा के साथ उनका व्यवहार कैसा रहा । जहाँ तक, इन शासकों में से कुछ की अनुचित या अत्याचारपूर्ण गतिविधियों की बात है, उनका कारण इस्लाम से अनभिज्ञता, इस्लामी सिद्धान्तों से दूरी और इस्लामी चरित्र के अपेक्षित मापदण्ड पर पूरा न उतरना, आदि है ।

मुहम्मद-बिन-क़ासिम

वैसे तो मुसलमान व्यापार के सिलसिले में बहुत पहले से भारत में आ-जा रहे थे, किन्तु ऐतिहासिक हैसियत से उनके आगमन का सिलसिला मुहम्मद-बिन-क़ासिम के आक्रमण से आरम्भ होता है । इतिहास बताता है कि अरबों के कुछ जहाज़ अरब-सागर से गुज़र रहे थे कि सिंध के लोगों ने उनको लूट लिया और उसमें सवार लोगों को बन्दी बना लिया । राजा दाहिर से — जो उस समय सिंध का शासक था — उस हानि की पूर्ति और बन्दियों के छोड़ने को कहा गया, किन्तु उसने सुनी-अनसुनी कर दी जिसके कारण अरब के मुस्लिम शासक के लिए अनिवार्य हो गया कि उनके विरुद्ध कार्रवाई करे ।

अतः सन् 712 ई० में मुहम्मद-बिन-क़ासिम को — जो उस समय कम-उम्र था, सिंध के मोर्चे पर भेजा गया । दाहिर की सेना ने बड़ी बहादुरी के साथ सामना किया, किन्तु जीत मुसलमानों की हुई । इतिहास इस बात का साक्षी है कि यह विजय मात्र राष्ट्र व भूमि विजय नहीं थी, बल्कि सिंधवासियों के दिल भी जीत लिए गए थे । मुहम्मद-बिन-क़ासिम कम-उम्री के बावजूद एक अच्छा चिन्तक, नीतिवान और महान गुणों से परिपूर्ण इनसान था । उसने अपनी दानशीलता, विशाल-हृदयता और सद्व्यवहारों से अल्पावधि में ही सिंधियों के दिलों को मोह लिया और ऐसी कार्यशैली अपनाई कि ग़ैर-मुस्लिम प्रजा उसके प्यार का दम भरने लगी । यद्यपि उस समय यहाँ मूर्ति-पूजा का बोल-बाला था । वे लोग अरब मल्लाहों व मुसाफ़िरों को पकड़कर और उनका सामान लूटकर बड़े दुष्टाचार का सुबूत दे चुके थे ।

मुहम्मद-बिन-क़ासिम की विशाल-हृदयता का प्रमाण

मुहम्मद-बिन-क़ासिम उन बातों को नज़रंदाज़ करके उनके साथ अत्यन्त उदार चरित्र से पेश आया, यहाँ तक कि ब्राह्मणों को बुलाकर मूर्ति-गृहों से संबंधित हर प्रकार की छूट उन्हें प्रदान की। इस संदर्भ में इतिहासकार अली-बिन-हामिद ''तारीख़े सिंध'' (सिंध का इतिहास) में लिखते हैं —

> अर्थात् उसने बहुत-से गुलामों और ब्राह्मण पेशवाओं को आदेश दिया कि अपने माबूदों (पूज्यों) की पूजा करें और उन माबूदों की देख-भाल करनेवालों के साथ अच्छा व्यवहार अपनाएँ और अपनी उपासना-परम्पराओं को अपने पूर्वजों के तरीक़ों पर अंजाम दें और जो वज़ीफ़ा आज से पहले ब्राह्मणों को दिया जाता था, पूर्वानुसार जारी रखें।

ब्राह्मणों का एक दल उसकी सेवा में उपस्थित हुआ और यह याचना की कि हिन्दू दस्तूर के मुताबिक़ हमारा क़ौमी दर्जा दूसरी ज़ातों से ऊँचा रखा जाए। उनकी यह याचना स्वीकार कर ली गई। इसके अलावा उसने धार्मिक स्वतंत्रता से संबंधित अपनी नीति की घोषणा इन शब्दों में की —

> ''हमारे शासन में प्रत्येक व्यक्ति स्वतंत्र होगा। जो व्यक्ति चाहे इस्लाम स्वीकार करे और जो चाहे अपने धर्म पर क़ायम रहे। हमारी ओर से कोई एतिराज़ न होगा।'' (तारीख़े सिंध)

> मुहम्मद-बिन-क़ासिम यहाँ मात्र साढ़े तीन साल ही ठहरा, किन्तु अपने शासन-काल में ग़ैर-मुस्लिमों को वह सम्मान प्रदान किया जिसका उदाहरण संसार में नहीं मिलता। उसने जहाँ मसजिदें निर्माण कराईं वहाँ मन्दिरों के निर्माण को रोका भी नहीं, बल्कि शासन मन्दिरों की मरम्मत को अपना कर्त्तव्य समझता था। इसी के चलते ब्रहमनाबाद, मुल्तान, अलवर और अन्य स्थानों के मंदिरों की इस्लामी ख़ज़ाने से मरम्मत कराई गई। मंदिरों की जागीरें उसने बहाल रखीं। ब्राह्मणों और पुजारियों के वज़ीफ़े भी बरक़रार रखे। हिन्दुओं और बौद्धों के साथ प्रजा-पालक, उदारता और दानशीलता का व्यवहार किया। उनको शासन में भागीदारी दी, बल्कि

बड़े-बड़े पदों पर ग़ैर-मुस्लिम ही आसीन थे। उदाहरणार्थ — काक, मुवक्का, सी-सागर और काकीशा आदि।

(हिन्दुस्तान में इस्लाम, अब्दुल बारी, एम.ए.)

एक हिन्दू विद्वान की गवाही

मुहम्मद-बिन-क़ासिम के इस कर्म-पद्धति के स्वयं ग़ैर-मुस्लिम भी स्वीकारी हैं अत: चुन्नी लाल आनन्द अपनी किताब "पैग़ामे सुलह" के पृष्ठ 3 पर मुहम्मद-बिन-क़ासिम की उदारता का उल्लेख करते हुए लिखते हैं कि —

> "वह (मुहम्मद बिन क़ासिम) सिन्ध का विजयी, हिन्दुओं की सामाजिक और धार्मिक परम्पराओं तथा आस्थाओं का आदर करता था, यद्यपि उसने पैग़म्बर (सल्ल०) के क़ानून के मुताबिक़ उनपर जिज़्या लगा दिया था, किन्तु हिन्दुओं को क़ानून की वैसी ही पनाह हासिल थी, जैसी कि मुसलमानों को थी। उनके सामाजिक और धार्मिक कार्य-क्षेत्रों में हस्तक्षेप नहीं किया जाता था। वे अपनी मूर्तियों की उपासना करते थे और उनके इच्छानुसार उनके ज़ात-पात के विधान को भी क़ानून का दर्जा दे दिया गया था। क़ासिम बुतशिकन (मूर्तिभंजक) नहीं था, न ही इसके बाद आनेवालों में से कोई था। उसने राज्य-विस्तार के साथ हिन्दुओं के लिए सरकारी कार्यालय खोल दिए थे। ब्राह्मणों को मालगुज़ारी और कलेक्ट्री के कामों पर नियुक्त किया गया था। मुहम्मद-बिन-क़ासिम ने मंत्रित्व के उच्चतर पद अपने समय के एक सुप्रसिद दार्शनिक 'काक' को प्रदान किया था। वास्तव में अरबों के अधीन सिंध धार्मिक स्वतंत्रता की भूमि थी।"

यह बयान किसी मुस्लिम इतिहासकार का नहीं, वरन् एक हिन्दू विद्वान का है यह उस वक़्त की बात है जबकि इस्लाम की जीतों का क्रम दरया-ए-नील से लेकर सिंध के तट तक पहुँच चुका था। जीत का नशा दीवानेपन से कम नहीं होता जीतनेवाली क़ौमें अपना बल और शक्ति दिखाने के लिए बहुत कुछ कर गुज़रती है और पराजित क़ौमों का हर दिन और हर रात अत्यन्त कष्ट और तकलीफ़ में व्यतीत होता है। यह सिर्फ़ मुसलमानों की विशेषता है कि वे सत्ता पाकर भी आपे से बाहर नहीं हुए। इतने विस्तृत क्षेत्र और लम्बे काल में भी बहुत कम ही ऐसा हुआ कि

इंसानियत व इन्साफ़ की सीमा से बाहर हुए हों । सामान्य स्थिति यही थी, कुछ अपवादों को छोड़कर जिनको सही नहीं कहा जा सकता, कि ये शासक अपनी ग़ैर-मुस्लिम प्रजा से सिर्फ़ इसलिए कि वे ग़ैर-मुस्लिम हैं, बुरे सुलूक से पेश नहीं आए, क्योंकि उनके सामने अल्लाह का यह हुक्म रहा है —

"निस्संदेह अल्लाह ज़ुल्म करनेवालों को पसंद नहीं करता ।"

यह शिक्षा सीधे-मार्ग की ओर मार्गदर्शन करती है । सच्चाई व न्याय पर क़ायम रखती है और ईश-भय और वचन-बद्धता सिखाती है । इन गुणों की पुष्टि के लिए हम सिंध के बौद्धों का वह बयान भी उद्धृत करते हैं जो उन्होंने मुहम्मद-बिन-क़ासिम के हमले के अवसर पर राजा दाहिर को सलाह देते हुए कहा था —

"हमको अच्छी तरह मालूम है कि मुहम्मद-बिन-क़ासिम के पास (इस्लामी शासक) हज्जाज का फ़रमान है कि जो शांति चाहे उसको शांति दो; इसलिए हमें पूरा विश्वास है कि आप अगर उचित समझें तो हम उससे सुलह (संधि) कर लें, क्योंकि अरब ईमानदार और अपनी संधियों के पाबन्द हैं ।" ('चचनामा', ईलियट, भाग-1 पृ०-159)

सर विलियम म्यूर की दोटूक टिप्पणी

सिंध की जीतों पर टिप्पणी करते हुए सर विलियम म्यूर ने लिखा है कि —

"उस वक़्त मुसलमानों ने हिन्दुओं के तमाम मंदिर उसी तरह रहने दिए जैसे वे पहले थे । उनको मूर्ति-पूजन से बलपूर्वक नहीं रोका । यहूदी व ईसाई और पारसी सभी को अनुमति थी कि अपने धर्म पर क़ायम रहें और यही कारण है कि इस्लामी (मुस्लिम) हुकूमत होने के बावजूद हिन्दुस्तान ग़ैर-मुस्लिम ही रहा ।"

उत्तरी सीमा से मुसलमानों का प्रवेश

मुहम्मद-बिन-क़ासिम अधिक दिन तक यहाँ न ठहर सका और जल्द ही अपने देश को वापस चला गया । सिंध की ओर मुसलमानों की अग्रसरता का क्रम बंद हो

गया । इसके बाद उत्तरी सीमाओं से मुसलमान भारत में आने शुरू हुए । यह आना उनका ऐसा ही था जैसाकि उससे पहले हिन्दू आर्य आ चुके थे । कुछ पक्षपाती इतिहासकारों ने मुसलमानों के इन हमलों को "धार्मिक उत्साह" कहकर बदनाम करने की कोशिश की है और आक्रमणकारियों के साथ-साथ इस्लाम पर भी आपत्ति की है ।

सुलतान महमूद ग़ज़नवी और हिन्दू लेखकगण

इस क्रम में सुलतान महमूद का नाम विशेष रूप से लिया जाता है । किन्तु यदि हम क़ौमपरस्ती की ऐनक को अपनी आँखों से हटाकर घटनाओं का सही ढंग से अध्ययन करें तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि उत्तरी घाटियों से मुसलमानों के आक्रमण धार्मिक आवेग का परिणाम न थे, बल्कि ये शताब्दियों की क़ौमी लड़ाइयों के सिलसिले की एक कड़ी थे । सुलतान महमूद से पहले पंजाब के अधिकतर राजा अफ़ग़ानिस्तान पर चढ़ाई कर चुके थे और देश-विजय के शौक़ में समुद्रगुप्त ने दक्षिणी भारत की ओर "विजय यात्रा" की थी । उसने यदि हिन्दुस्तान पर आक्रमण का प्रोग्राम बनाया तो उसी प्रकार वह मुसलमानों के शासक पर भी चढ़ाई का इरादा रखता था ।

पंडित जवाहर लाल नेहरू ने अपने एक लेखन में कहा है —

> "हिन्दू लोग महमूद से यूँ ही दुर्विचार-ग्रस्त हैं, वरना वह ऐसा आदमी था कि उसने मुसलमानों के ख़लीफ़ा पर भी हमला करने की योजना बनाई थी, किन्तु बाद में ख़लीफ़ा का चुप कर देनेवाला उत्तर आ जाने से उसने यह इरादा स्थगित कर दिया ।"

इस उल्लेख से साफ़ ज़ाहिर है कि महमूद का हिन्दुस्तान पर आक्रमण कोई इस्लामी आक्रमण न था, न कहीं इस्लाम के प्रचार-प्रसार का इन हमलों से काम लिया गया । जिस प्रकार संसार के और बादशाह उस ज़माने में दूसरे राष्ट्र को अधीन करने या मित्र की सहायता के लिए दौड़ पड़ते थे, महमूद ने भी ऐसे ही आक्रमण किए थे, लेकिन जैसाकि डॉ॰ राम आसा 'राज़' एम॰ ए॰, पी॰ एच॰ डी॰ रिसर्च स्कॉलर, "मुस्लिम बादशाहों की सियासी पॉलिसी" के शीर्षक से लिखते हैं, बिलकुल सही है । वे लिखते हैं —

"मात्र तलवार के बल पर अधिक समय तक शासन नहीं किया जा सकता था । इसी लिए उनके लिए हिन्दुओं को अपने साथ मिलाना अनिवार्य था । अतएव, शासन की सुदृढ़ता के लिए हिन्दुओं को धार्मिक सुरक्षा और शासन में पद दिए गए । इसके अलावा सेना में प्रतिनिधित्व, मंदिर बनाने की अनुमति, ब्राह्मण और अन्य साधुओं-सन्तों का आदर-सत्कार, संस्कृत एवं साहित्य की उन्नति आदि सभी देख-रेख उन्हीं राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए था । इतिहास के गहन अध्ययन से ज्ञात होता है कि अधिकतम मुस्लिम बादशाहों को धर्म से अधिक लगाव नहीं था । उनकी धार्मिक नीति भी सामान्य रूप से राजनीति के प्रभावाधीन सम्पादित होती थी । इसी लिए कभी वे इस्लामी विद्धानों को अपने साथ मिलाने के लिए ब्राह्मणों पर सख़्ती करते थे और कभी इस्लामी विद्धानों का ज़ोर तोड़ने के लिए हिन्दुओं को अपने साथ मिला लेते थे । बादशाहों की यह नीति सिर्फ़ सत्ताधारी रहने के लिए होती थी जो किसी कठोर नियम की पाबन्द नहीं होती थी । इसी लचकदार नीति के परिप्रेक्ष्य में महमूद ग़ज़नवी ने हिन्दुओं की ओर दोस्ती का हाथ बढ़ाया । सोमनाथ का जीता हुआ क्षेत्र वहाँ के राजा सुखपाल को सौंप दिया । राजनैतिक स्वार्थाधीन कालींजर के राज़ा के विरुद्ध क़न्नौज के कुँवर राय की सहायता की । इसी तरह सुलतान ने लाहौर में जो सिक्का चलाया उसके एक ओर अरबी और दूसरी ओर संस्कृत इबारत खुदवाई थी ।"

(उर्दू शायरी में क़ौमी यकजहती की रिवायत, पृ॰ 57-58)

डित जवाहर लाल नेहरू का बयान

इस संदर्भ में हम पंडित जवाहर लाल नेहरू के एक बयान की ओर ध्यान लाएँगे । वे "डिस्कवरी ऑफ़ इंडिया" में लिखते हैं —

"हिन्दुस्तान पर किसी इस्लामी हमले या इस्लामी शासनकाल का उल्लेख करना ऐसा ही ग़लत और गुमराहकुन है, जैसा हिन्दुस्तान में अंग्रेज़ों के आगमन को ईसाइयत का हमला या बरतानवी सत्ता को ईसाइयत का शासनकाल कहना ।

इस्लाम ने हिन्दुस्तान पर कभी हमला नहीं किया । वह धर्म की हैसियत से फ़तह करनेवालों के हमले से कई शताब्दी पहले हिन्दुस्तान में दाख़िल हो चुका था । भारत पर महमूद का आक्रमण तुर्कों का आक्रमण था । मुहम्मद ग़ौरी का आक्रमण अफ़ग़ानों का आक्रमण था और बाबर का आक्रमण तुर्क मंगोल या मुग़लों का हमला था ।''

(भाग-5, तृतीय संस्करण, सन् 1947, पृ०-196)

यह पंडित जी की उत्तरी सीमा से भारत पर होनेवाले आक्रमणों और विजयों प एक बेलाग टिप्पणी है । वास्तव में इतिहास जैसे विषय पर लेखनी उठाने अ परिणाम प्राप्त करने के लिए बड़ी दूरदर्शिता और बुद्धिमत्ता की आवश्यकता है । य ज़िम्मदारी भारत के सुलतानों के विषय में इस कारण से और भी बढ़ जाती है हिन्दू-मुस्लिम इस देश में शताब्दियों से रहते चले आए हैं । मुसलमान जो विज की हैसियत से यहाँ आए थे और अपने वतन को भूलकर यहीं रच-बस गए, यहाँ प्राचीन निवासियों के साथ घुल-मिल गए और यहाँ की सभ्यता और संस्कृ रीति-रिवाज और उत्सवों में भागीदार हो गए । इसमें कोई संदेह नहीं कि इस लम अवधि में आपस में लड़ाइयाँ हुईं, किन्तु यह ऐसी लड़ाइयाँ थीं जैसे दो भाइयों होती हैं । अपने विरोधी मुस्लिम शासकों से भी ये लड़ाइयाँ हुईं । उनमें पक्षपात क़ौमियत को दख़ल न था । बल्कि वही, दूसरे देशों को अधीन क़रने की हवस भावना प्रभावी थी । या कभी ऐसा भी हुआ कि जोश में आकर कोई हिन्दू बग़ावत उग्र हुआ तो उसको दबाने के लिए शाही फ़ौजें हरकत में आईं । इतिहास का वह युग था जब बग़ावत को कुचलने के लिए हिन्दू शासक, हिन्दू बाग़ी पर अ मुस्लिम शासक मुस्लिम बाग़ी पर चढ़ दौड़ा करता था । आज भी संसार में कहीं और अपने देश में कई क्षेत्रों में होनेवाली बग़ावतों को, शासन की ओर से दबाने हर यत्न किया जाता है और धर्म, जाति या सम्प्रदाय का लिहाज़ किए बिना ऐ राष्ट्र-हित में किया जाता है ।

महमूद ग़ज़नवी और राजा आनन्दपाल

यह सभी जानते हैं कि कोई निरंकुश शासन अपनी सीमाओं में किसी प्रकार बग़ावत को बर्दाश्त नहीं कर सकता । फिर जैसा कि लिखा जा चुका, इस मामले

ास प्रकार एक हिन्दू बाग़ी के साथ अमल होता था उसी प्रकार मुस्लिम बाग़ी या ुस्लिम आक्रमणकारी के साथ भी होता था । उस समय धार्मिक विभिन्नता अधिक हत्व नहीं रखती थी । मुसलमान बादशाहों की फ़ौज में अधिकतम हिन्दू सरदार और नापति होते थे । इसी तरह हिन्दू राजाओं की सेना में भी मुसलमान सम्मिलित कर खुद मुसलमानों से लड़ते थे । उस ज़माने में वैयक्तिक स्वामि-भक्ति और तेज्ञा-सम्मान की भावना बहुत उभरी हुई रहती थी । अत: राजा आनन्दपाल पर हमूद के हमले के पीछे इसी भावना का संचार था । इसकी तरफ़ "सैयदे गुलशने न्द" के लेखक लाला बाबू राम ने निम्नलिखित शब्दों में संकेत किया है —

"महाराजा क़न्नौज और महमूद ग़ज़नवी के सम्बंध इतने अच्छे थे कि महमूद ने राजा से यह कह रखा था कि जब कोई शासक तुमपर हमला करे तो तुम निस्संकोच अपनी सहायता के लिए ग़ज़नी से सेनाएँ माँग सकते हो और यह रिआयत मात्र तुम्हारे ही लिए नहीं है, वरन् तुम्हारे उत्तराधिकारी के लिए भी है । ग़ज़नी हुकूमत, सदैव तुम्हारे उत्तराधिकारियों की दिल व जान से मदद करेगी ।"

अत: बाबूराम जी के कथनानुसार —

"जब राजा आनन्दपाल ने क़न्नौज पर चढ़ाई की तो क़न्नौज के राजा की सूचना पर महमूद पूर्व वादे के मुताबिक़ तत्काल क़न्नौज पहुँचा । किन्तु क़न्नौज का राजा पहले ही मारा जा चुका था । इससे महमूद को दिली सद्मा हुआ और वह कालींजर की ओर बढ़ा । आनन्दपाल को उसके मुक़ाबले की हिम्मत न हुई और शांति-समझौता चाहा । महमूद ने अविलम्ब उसको माफ़ कर दिया ।"

महमूद और सोमनाथ का मंदिर

महमूद के नाम के साथ सोमनाथ का मंदिर भी लोकोक्ति बन चुका है, जिसके साथ तरह-तरह की कहानियाँ गढ़ रखी गई हैं और अवसरवादी क़िस्म के सियासी नेताओं ने हमेशा उन कहानियों से अनुचित लाभ उठाया । जबकि वास्तविकता यह है कि यह मन्दिर उस वक़्त सियासी सरगर्मियों का केन्द्र बना हुआ था ।[1] बहुत-से

1. जैसा कि सन् 84 ई॰ में अमृतसर के मंदिर का मामला "आपरेशन ब्लू-स्टार" पेश आया ।

पराजित छोटे राजाओं ने वहाँ पहुँचकर संयुक्त मोर्चा स्थापित कर लिया था अ
सिंध, फ़ारस और गुजरात के क़िरामता से, जो महमूद के विरोधी थे, वे लो
साज़-बाज़ कर रहे थे । इसका मूलोच्छेद कर देना राजनैतिक दृष्टिकोण से बहु
ज़रूरी समझा गया था ।

अत: महमूद सोमनाथ के निकट पहुँचा तो मन्दिर और शहर में एक ज़बरदस
लश्कर को मुक़ाबले के लिए तैयार पाया । मंदिर में इतनी बड़ी फ़ौज का होना इ
बात की दलील थी कि षड्यंत्र पूरे ज़ोर-शोर पर पहुँच चुका था । इसलिए इ
षड्यंत्र के केन्द्र को ध्वस्त करना ज़रूरी समझा गया, अन्यथा यदि उसको ऐसा ह
मंदिर तोड़ने का शौक़ था तो पंजाब से लेकर सिंध तक हज़ारों की संख्या में मंदि
बने थे और लाखों की संख्या में हिन्दू निवास करते थे? वे मंदिर क्यों नहीं तोड़े ग
और हिन्दुओं को मुसलमान क्यों नहीं बनाया गया । इसी से यह अन्दाज़ा होता है वि
इस्लाम में बलात धर्म परिवर्तन के वृत्तान्त मात्र कहानियाँ हैं ।

ग़ैर-मुस्लिम इतिहासकार

"इंसाइक्लोपीडिया आफ़ इस्लाम" (Encyclopaedia of Islam) के ईसा
लेखक ने भी महमूद के बारे में ऐसा ही विचार प्रकट किया है । लिखता है —

> "महमूद ने धर्म के सम्बंध में कहीं ज़बरदस्ती नहीं की, वरन् कई जगह उसने अपने धर्मवालों पर हिन्दुओं को प्राथमिकता दी ।"
>
> (रिसाला तुलूए इस्लाम, पृ०-57)

एक दूसरे ग़ैर-मुस्लिम रिसर्च स्कालर श्री डॉ० राम आस्रा 'ज़ोर' अपने
शोध-लेख "उर्दू शायरी में क़ौमी यकजहती की रिवायत" के पृ० 35 पर लिखते
हैं —

> "महमूद ग़ज़नवी के यहाँ हिन्दुओं की सुव्यवस्थित सेना थी, तिलक सुन्दर और बैजनाथ जैसे जरनैलों के नाम हम तक पहुँचे हैं । महमूद ग़ज़नवी के बेटे मसऊद को पंजाब में अमन व अमान क़ायम करने के लिए जब अपने भाई से जंग करने की ज़रूरत पड़ी तो उसने तिलक ही की नेतृत्व में अपनी फ़ौजें वहाँ भेजीं ।"

एक और अंग्रेज़ इतिहासकार 'एडवर्ड गिब्बन' ने भी महमूद की दूरदर्शिता और न्याय प्रियता को सराहते हुए लिखा है —

> "महमूद संसार के तेजस्वी राजाओं में से एक है । वह एक बहादुर सिपाही था । एक अनुभवी जरनैल, न्याय और इनसाफ़ का ध्वजावाहक और विद्वानों व पंडितों का आदर करनेवाला वह एक ऐसा शासक था जिसने सुख-शांति और अमन व खुशहाली की कोशिश की और शिक्षा व व्यापार को बढ़ोत्तरी दी । वह मानवीय हैसियत से नियम व व्यवस्था का पाबंद रहा । स्वाभाविक तौर पर न ज़ालिम था न लालची, बल्कि न्यायप्रिय और दानशील था ।"

इसी के साथ-साथ हिन्दुस्तान के सुप्रसिद्ध इतिहासकार श्री सी॰ वी॰ वैद्य, आनरेरी फ़ेलो, मुम्बई यूनिवर्सिटी की राय भी दिलचस्पी से ख़ाली नहीं है । लिखते हैं —

> "वह (महमूद) एक इनसान की हैसियत से बुहत बड़े धैर्य, संयम और उच्च चरित्र का मालिक था । उसके हमलों में इसकी मिसालें तो मिलती हैं कि रक्तपात हुआ, क़ैदी गुलाम बनाए गए, किन्तु औरतों की इज़्ज़तें लूटना या उनके क़त्ल की कोई मिसाल नहीं मिलती । वह न्यायप्रिय था, इसलिए अत्याचार से घृणा करता था । यदि उसका बेटा भी व्यभिचार का अपराधी होता तो वह उसका भी क़त्ल करने के लिए तैयार हो जाता ।"

श्री सी॰ वी॰ वैद्य ने यह बात यूँ ही नहीं कही है । इसके पीछे ऐतिहासिक प्रमाण मौजूद है ।

महमूद का न्याय

एक व्यक्ति ने महमूद से आकर शिकायत की कि आपका एक अधिकारी मेरी बीवी को मुझसे छीनना चाहता है । महमूद ने खुद उसके घर पहुँचकर उसकी जाँच की । जिस वक़्त वह अधिकारी, जो महमूद का रिश्तेदार भी था, उसकी बीवी के पास गया तो महमूद ने स्वयं अपनी तलवार से उसे वहीं क़त्ल कर दिया ।

(ऐतिहासिक कहानियाँ, लेखक: अब्दुर्रशीद, एम॰ ए॰, पृ॰ 49)

इन वृत्तांतों को उद्धृत करने से हमारा यह उद्देश्य हरगिज़ नहीं था कि महमूद को बेगुनाह साबित किया जाए, वरन् बताना यह है कि महमूद प्रजा-पालक, न्यायप्रिय और नेक मिज़ाज इनसान था और हाँ, आम बादशाहों की तरह शासन क्षेत्र के विस्तार का शौक़ उसे भी था।

अन्य मुस्लिम शासक और हिन्दू

सुलतान महमूद के बाद उत्तरी सरहदों का दरवाज़ा मुसलमानों के लिए खुल गया। बहुत-से मुसलमानों ने इस रास्ते से हिन्दुस्तान पर आक्रमण किए। किन्तु यहाँ यह बात भी याद रखनी चाहिए कि जो भी मुसलमान आक्रमणकारी हिन्दुस्तान आया, वह फिर यहीं का होकर रह गया। उसने हिन्दुस्तान को अपना वतन बना लिया। यहाँ की हर चीज़ को अपना समझा और यहाँ के रहनेवालों से मेल-जोल पैदा किया। हमारी बात की पुष्टि आर्य समाज के मशहूर लीडर लाला लाजपत राय के बयान से भी होती है जो उन्होंने अपनी पत्रिका ''वन्दे मातरम्'' की 7 जुलाई, सन् 1920 ई० के प्रकाशन के प्रथम पृष्ठ पर प्रकाशित किया था —

> ''मुसलमान अच्छे थे या बुरे — उनमें एक बात तो थी और वह यह कि उन्होंने हिन्दुस्तान को अपना वतन बना लिया, हिन्दुओं पर भरपूर भरोसा किया। उनको उच्चतम पदों पर नियुक्त किया और कभी क़ौमी नफ़रत उनकी कारवाई का उत्प्रेरक न होती थी।''

इल्तुमिश और बलबन ग़ुलाम ख़ानदान के सुप्रसिद्ध शासक हुए हैं। वे लोग बाहर से आए थे, किन्तु मरते दम तक यहीं रहे और इस देश को अपना देश समझा और इसकी रक्षा हेतु अपनी छाती को ढाल बनाए रहे। उत्तरी दिशा से होनेवाले आक्रमण अधिकतर मुसलमानों के आक्रमण थे, लेकिन दिल्ली और लाहौर के सुलतानों को यह बात किसी तरह गवारा न थी कि वे लोग यहाँ आकर क़त्ल व रक्त-पात करें और प्रजा को सताएँ। इसलिए उन्होंने अपनी तलवारों से मुसलमानों के गले काटकर अपने प्रिय वतन की रक्षा की। यहाँ तक कि सुलतान बलबन का बड़ा लड़का उन्हीं सरहदी लड़ाइयों में काम आया। लेकिन अपने दिल के टुकड़े बेटे की मौत के बाद भी वह बराबर मुग़लों को हिन्दुस्तान में आने से रोकता रहा और

अपनी हिन्दू प्रजा के जान-माल और आबरू की रक्षा के लिए डटकर मुक़ाबला करता रहा तथा अपनी सलतनत में हिन्दुओं की सामाजिक व्यवस्था, क़ानून और धर्म पर किसी प्रकार की आँच न आने दी।

अख़बार 'केसरी' की खोज

ऐसा न होता तो क्या वह ऐसे विशाल देश पर 40 वर्ष शासन कर सकता था! वास्तविकता यह है कि यह पारस्परिक सम्बंध, प्रजा-पालन और धार्मिक उदारता का चमत्कार था कि हिन्दुओं की विशाल आबादी पर मुट्ठी भर मुसलमान एक हज़ार साल तक शासन कर सके। यह हमारा मत नहीं, बल्कि आर्य समाजी अख़बार — 'केसरी' लाहौर, अपनी 9 दिसम्बर, सन् 1923 ई॰ के प्रकाशन में यह लिखने पर मजबूर हुआ —

> "इस्लामी सलतनत जहाँ भी क़ायम हुई उसका सबसे बड़ा प्रभाव सांस्कृतिक जीवन पर पड़ा। यही कारण था कि पुराकालीन हिन्दू लोग मुसलमानों के शासन में न सिर्फ़ सुख-शांति और सुरक्षा के साथ रहे, बल्कि सलतनत के अंतरंग अधिकारी व मूलाधार बने रहे। किसी मुस्लिम शासक ने हिन्दुओं की सामाजिक जीवन-प्रणाली, क़ानून और धर्म को बरबाद करने की कोशिश कभी नहीं की। यदि कभी लूट मची तो उसकी वजह अधिकतम किसी मोर्चे में आर्थिक आवश्यकता हुई या व्यक्तिगत द्वेष या किसी हिन्दू का विद्वेषक प्रदर्शन। फिर भी लूट के बाद ही माले-ग़नीमत (युद्ध में प्राप्त माल) वितरण विधानानुसार हिन्दुओं के पास ही चला गया। अगर कोई मन्दिर टूटा तो तत्काल उसी जगह पहले से अधिक शानदार और आलीशान मन्दिर का पुनर्निर्माण करा दिया गया। यह भी याद रहे कि हिन्दू प्राय: कहीं-कहीं बग़ावत भी करते थे, जिसको दबाने के लिए शासन को शक्ति से काम लेना पड़ता था। किन्तु ताज्जुब की बात यह है कि इतिहास के पन्ने बर्बरता की मिसालों की तुलना में रौशन दिमाग़ी की मिसालें अधिक प्रस्तुत करते हैं।"

आगे चलकर क़ुत्बुद्दीन ऐबक और सुलतान बलबन के सम्बंध में यही अख़बार लिखता है कि —

"क़ुत्बुद्दीन ऐबक अत्यन्त न्याय और इनसाफ़ के साथ शासन करता था और बलबन अगर एक ओर हिन्दू बग़ावत को दबाने में व्यस्त था, तो दूसरी ओर मुग़लों के सैलाब को पूरी तरह रोकने में आगे-आगे था । इन सब बातों के बावजूद वह दरबार की शान व शौकत को इस प्रकार क़ायम रखे हुए था कि हज़ारों हिन्दू दूर-दराज़ से पैदल चलकर शाही दरबार देखने आते थे । यह वह ज़माना था जब मुसलमानों की सलतनत हिन्दुस्तान में क़ायम हो रही थी और वे यहाँ अजनबी थे ।"

लेकिन अजनबी होते हुए भी वे अपनी प्रजा का विशेष ध्यान रखते थे । उनसे अच्छे व्यवहार करते थे और धीरे-धीरे आगे चलकर उनमें इतना स्नेह हो गया कि पराएपन के पर्दे उठते चले गए । दोनों के मेल-जोल ने ज़िन्दगी के हर विभाग में एकता और मित्रता पैदा कर दी । यह समानता इस हद तक बढ़ी कि कभी-कभी और कुछ स्थितियों में हिन्दू और मुसलमान में अन्तर कर पाना मुशकिल होता था । बादशाहों की विशाल-हृदयता, प्रेम भाव और उदारता का यह हाल था कि अपनी शासित प्रजा को हर प्रकार की धार्मिक स्वतंत्रता प्रदान की और उनके धार्मिक मामलों में बिलकुल हस्तक्षेप नहीं किया ।

अतः वारेन हेस्टिंग्ज़ ने, जो हिन्दुस्तान में ईस्ट इंण्डिया कम्पनी के आरंभिक दौर में गवर्नर जनरल होकर आया था, 21 मार्च, सन 1917 ई० मे लार्ड मेनन फ़्लैड को इंग्लैंड में एक ख़त में लिखा था —

"हिन्दुस्तान के पास वह क़ानून है जिनमें प्राचीनतम युग से अब तक कोई परिवर्तन नहीं हुआ । उन क़ानूनों को चलानेवाले सारे देश में फ़ैले हुए हैं और एक ही भाषा बोलते हैं और आम लोग इस भाषा (संस्कृत) से अनभिज्ञ हैं । लोग इनपर चढ़ावे चढ़ाते हैं, इनका इतना सम्मान व आदर करते हैं कि बुतपरस्ती (मूर्तिपूजा) तक नौबत पहुँच गई है । इन क़ानून के रखवालों (ब्राह्मणों) के प्रभाव व पहुँच में इस्लामी सलतनत ने भी कोई कमी नहीं की और जो चीज़ें हिन्दुओं की पारंपरिक और धार्मिक मर्यादाओं की केन्द्र हैं वह उन्हीं के क़ब्ज़े में रहने दी हैं ।"

न्याय पर आधारित शासन करना शासक का अनिवार्य कर्त्तव्य है । अच्छी

नीयत, रहमदिली और उदारता ऐसे उच्च गुण हैं जो हर शासक में होने चाहिएँ। जब दूसरी क़ौमों के लेखकगण मुस्लिम शासकों के न्यायनिष्ठ होने के प्रमाण हैं, तो ज़रूर वे लोग बड़े ही न्यायकर्ता और इंसाफ़-पसंद थे। तभी तो वे अपनी प्रजा के साथ ऐसा अच्छा बरताव कर सके।

किन्तु हमारे स्कूलों में जो इतिहास पढ़ाए जाते हैं, वह मात्र युद्ध-वृत्तान्तों का संग्रह होते हैं। उनमें एक शासक की दूसरे शासक पर चढ़ाई और मार-काट के सिवा और कुछ नहीं लिखा जाता। इससे बच्चों के दिलों पर शुरू ही से ये बातें घर कर जाती हैं कि इतिहास सिर्फ़ लड़ाई-झगड़े और युद्धों की कहानी है और मुसलमानों ने हिन्दुस्तान में आकर सिवाय मार-काट के और कोई काम नहीं किया। फिर इतिहास पढ़ानेवाले शिक्षक भी क़ौम-परस्ती के आधार पर अपना यह कर्त्तव्य समझते हैं कि पक्षपात के रंग में रंगकर इतिहास के पाठ बच्चों को पढ़ाएँ। परिणाम यह होता है कि गुज़रे हुए मुस्लिम शासकों में सिवाय एक दौर के किसी के बारे में यह पता नहीं चलता कि वे ज़ुल्म व बरबरियत के अलावा और भी कोई गुण रखते थे या नहीं। यद्यपि इसी दिल्ली के राजसिंहासन पर ऐसे-ऐसे मुस्लिम शासक राज कर चुके हैं जिनकी भलाई गर्व करने के योग्य है।

नासिरुद्दीन और शाही ख़ज़ाना

नासिरुद्दीन गुलाम ख़ानदान का सुप्रसिद्ध मुस्लिम शासक गुज़रा है। उसने हिन्दुस्तान पर 20 साल तक राज किया, लेकिन इस पूरी अवधि में उसने बादशाहत को अल्लाह की अमानत और शाही ख़ज़ाना (राजकोष) को प्रजा की सम्पत्ति समझा। अनुचित ढंग से उसमें क़तई ख़र्च नहीं किया। वह स्वयं अपना और अपने घरवालों का ख़र्च 'क़ुरआन शरीफ़' लिखकर चलाता था। ख़ज़ाने से एक पाई लेना गुनाह समझता था। उसकी बेगम स्वयं खाना पकाती थी। एक बार जब हाथ जल जाने पर बेगम ने बादशाह से एक नौकर की इच्छा प्रकट की तो नासिरुद्दीन ने उसे समझाया कि —

> ''मेरे पास तो इतनी सम्पत्ति नहीं है कि नौकर रख सकूँ और ख़ज़ाना प्रजा की संपत्ति है। यदि मैं इसमें से अपने ऊपर ख़र्च करूँगा तो क़ियामत में इसकी पूछ-गछ होगी। इसलिए जिस प्रकार हो गुज़र कर

लो और आख़िरत की बाज़पुर्स और पूछ-गछ से बच जाओ।''

(तारीख़े हिन्द)

यह घटना यद्यपि घरेलू ज़िन्दगी से सम्बंध रखती है, लेकिन इससे नासिरुद्दीन के उच्च चरित्र और उत्तरदायित्वपूर्ण व्यक्तित्व का अंदाज़ा होता है कि ऐसा आदमी मुशकिल ही से किसी का हक़ मारने और ज़ुल्म व ज़्यादती करने पर तत्पर होगा। फिर यह भी स्पष्ट है कि मुसलमान उस वक़्त अल्प संख्या में थे और हिन्दू बहरहाल अधिक संख्या में थे। ख़ज़ाने का अधिकतर भाग हिन्दू जनता की ही भलाई के कामों पर ख़र्च होता होगा। नासिरुद्दीन ख़ज़ाने से धन लेकर अपनी प्रजा का हक़ मारना नहीं चाहता था।

ग़यासुद्दीन बलबन की न्यायनिष्ठता

ग़यासुद्दीन बलबन नासिरुद्दीन का प्रधानमंत्री था जो बाद में खुद दिल्ली का सुलतान बना। उसकी शान, शक्ति व गौरव के चरम काल में मलिक बक़बक़ बद्र मुनीर ऐबक शाही गार्ड का बड़ा अफ़सर था। उसे बादशाह की अत्यन्त निकटता प्राप्त थी। सुलतान ने उसको उत्तरीय भारत (वर्त्तमान उ॰ प्र॰) का गवर्नर बनाकर चार हज़ार सवारों की फ़ौजी टुकड़ी रखने की अनुमति दी थी। उसने एक बार ग़ुस्से की हालत में अपने एक ख़ेमा लगाने वाले को कोड़े से इतना पिटवाया कि वह मर गयी। कुछ समय बाद सुलतान ग़यासुद्दीन बलबन शायद दौरे के सिलसिले में बदायूँ गया। उस समय उस ख़ेमा लगाने वाले की बीवी ने बादशाह के सामने फ़रियाद की। सुलतान को जब इस घटना की तसदीक़ हो गई तो उसने आदेश दिया कि इस औरत के सामने मुजरिम सूबेदार को खड़ा करके इतने कोड़े मारे जाएँ कि वह मर जाए। इस आदेश का पालन तत्काल किया गया और साथ ही बदायूँ के डाक के अधिकारी को भी, जिसने इस घटना की सूचना बादशाह को नहीं दी थी, सूली पर लटका दिया गया। (तारीख़े फ़ीरोज़शाही, भाग - 1, पृ॰ 40)

कशमीर का मुस्लिम सुलतान और हिन्दू

इसी प्रकार एक और सुलतान, जो कशमीर में शासन करता था, अत्यन्त प्रजा-पालक, न्यायनिष्ठ और नेक दिल गुज़रा है। उसने अपनी ग़ैर-मुस्लिम प्रजा के

साथ ऐसा प्रेमपूर्ण और स्नेहिल व्यवहार किया कि आज तक मुस्लिम, ग़ैर-मुस्लिम सभी लोग उसे 'बादशाह' के नाम से याद करते हैं । उसकी महानता का अंदाज़ा इससे लगाया जा सकता है कि — "मिलाप" जैसी पत्रिका ने अपने 18 दिसम्बर, सन् 1928 ई॰ के अंक में इस बादशाह के उच्च चरित्र पर प्रकाश डालनेवाला एक विस्तृत लेख प्रकाशित किया । हम यहाँ उसके कुछ अंश प्रस्तुत करने ही पर बस करते हैं । वे लिखते हैं —

"सुलतान ज़ैनुल आबिदीन, जिसे आदर-भाव से 'बड बादशाह' कहते हैं, कशमीर में एक अद्वितीय मुस्लिम शासक गुज़रा है । उसने कशमीर में बहुत-से रचनात्मक कार्य किए । नहरों की मरमत कराई, कृषि को उन्नति दी और दूसरे काम जनकल्याण के लिए प्रचलित किए । समय आएगा कि उसके विस्तृत वृत्तांत जनता के समक्ष रखे जाएँगे । हिन्दू क़ौम अकबर की प्रशंसक है, किन्तु जब मुक़ाबले में दोनों के कारनामे ज़ाहिर होंगे, तो स्पष्ट है कि बड बादशाह हिन्दुओं की ओर से प्रशंसा का अधिक भागी साबित होगा । उसके दौर में सबसे बढ़कर जो शांति कशमीर की जनता को नसीब थी वह यह कि उसके अन्दर पक्षपात और अत्याचार व क्रूरता का नामो-निशान भी न था । 'शेर और बकरी एक घाट पानी पीने' की मिसाल उसी ज़माने पर पूरी उतरती है । क्या मजाल कि कोई व्यक्ति किसी पर अत्याचार करना तो दूर उससे सख़्ती से पेश आ जाए । किसी मुसलमान की यह हिम्मत न थी कि साधारण से साधारण हिन्दू का भी दिल दुखाए, बल्कि यह बादशाह हिन्दुओं को मुस्लमानों से अधिक प्रिय रखता था । वह प्रत्येक धर्म और सम्प्रदाय की दिलजोई में सदा प्रयासरत रहता था ।"

आगे चलकर बड बादशाह की धार्मिक उदारता के बारे में यह समाचार पत्र लिखता है —

"उसने हिन्दू सम्प्रदायों की सरपरस्ती यहाँ तक की कि हिन्दुओं के मेले और तीर्थों में सुलतान स्वयं उपस्थित होता था, ताकि कोई व्यक्ति उनके धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप न करने पाए तथा पंडितों के बेटों को, जो अरबी-फ़ारसी के विद्वान थे, बड़े- बड़े पदों पर नियुक्त किया । इसके

अलावा सुलतान ने एक ब्राह्मण को शिक्षा-मंत्री नियुक्त किया । मंदिरों के ख़र्चों के लिए जागीरें दीं और सुलतान के आदेश से प्रत्येक मंदिर के साथ एक-एक पाठशाला का भी निर्माण किया गया, जिनमें हिन्दू विद्यार्थी स्वतंत्रता से अपनी धार्मिक शिक्षा प्राप्त करते थे । अनुवाद-विभाग का मुख्य अधिकारी भी एक कशमीरी ब्राह्मण था, जिसके अधीन बड़े-बड़े योग्य मुसलमान रहते थे । मतलब यह कि इस बादशाह की रहमदिली और न्यायनिष्ठा के कारनामे इतने विस्तृत हैं कि बहुत कम बादशाह उसका मुक़ाबला कर सकते हैं । यह भी मशहूर है कि हज़ारों हिन्दुओं ने उसके बन्धुत्व और मित्रता की बातें सुनकर कशमीर में स्थाई नागरिकता ले ली थी ।

सोचने की बात यह है कि जिस क़ौम ने किसी दूसरी क़ौम पर विजय प्राप्त की हो, क्या वह इस प्रकार के पद परास्त क़ौम को प्रदान करती है? उसके धर्म, उसकी सभ्यता, उसकी संस्कृति और परम्पराओं की रक्षा के लिए इस प्रकार की उदारता अपनाती है? प्रभुत्व और शक्ति रखते हुए क्या अपनी पराजित क़ौम के उपास्यों, मंदिरों और मठों को क़ायम रखती है, अपनी अनुकम्पाओं और अनुग्रहों से काम लेते हुए उनके ख़र्चों के लिए लाखों रुपये की जागीरें दान करती है?''

हिन्दी साहित्य और मुसलमान

इस विषय में आम तौर पर लोग अमीर ख़ुसरो और मलिक मुहम्मद जायसी और अब्दुर्रहीम ख़ानख़ाना का नाम ही जानते हैं । जबकि भूतकाल में सैकड़ों मुसलमान कवि और साहित्यकार ऐसे गुज़रे हैं, जिनका हिन्दी साहित्य के आरंभ करने में उल्लेखनीय योगदान रहा है । प्रसिद्ध साहित्यकार नियाज़ फ़तेहपूरी के कथनानुसार —

''यह बात शायद बहुत कम लोगों को ज्ञात होगी कि हिन्दी की सबसे पहली मसनवी 'मृगावती' एक मुसलमान ने ही लिखी थी, जिनका नाम क़ुतबी शेख़ था और जो शेर शाह सूरी के पिता हुसैन शाह के यहाँ रहते थे ।''

हिन्दी का एक मशहूर दोहा है —

ऐ हलाहल मदभरे सुवेतशाम रतनार ।
जीत रितु झक दहक परत झम चतूत एक बार ॥

आप जिस किसी हिन्दू से पूछिए यह किस का दोहा है तो वह यही कहेगा कि बिहारी का' जबकि यह सैयद गुलाम नबी बिलग्रामी का है । इसी तरह —

रजब शाह की — सारवी ग्रंथ
हुसैन की — कालीदास हज़ारा
आज़म ख़ाँ की — श्रृंगार दर्पण
तालिब अली बिलग्रामी की — दीपक पर्मा
नवाज़ुल्लाह बिलग्रामी की — सार चंद्रिका
काज़िम अली की — सनास बत्तीसी
सैयद पहाड़ की — रस्नसार
क़ासिम शाह की — हंस जवाहिर
हाजी का — प्रेमनामा
मुंशी ख़ैराती ख़ाँ की — देवरी सागर

और इसी प्रकार की सैकड़ों दूसरी हिन्दी भाषा की रचनाएँ मुसलमानों के क़लम से निकली हैं, जिनका हिन्दी साहित्य में ऊँचा स्थान है ।

हिन्दू उपदेशकों और सुधारकों को स्वतंत्रता

शायरों और साहित्यकारों के अलावा जो लोग धार्मिक कर्मों का प्रचार करते थे, मुस्लिम शासकों ने उनके कामों में भी कभी रुकावट नहीं डाली । वे लोग पूरी स्वतंत्रता के साथ अपने धर्म और आस्थाओं का प्रचार-प्रसार करते थे । चुनांचे, गुरु रामानंद, गुरु नानक, महाबीर भूजतन जी, रूप सनातन गोसाईं , वल्लभ भाई आचार्य आदि के वृत्तांत इस दावा के सुबूत में मौजूद हैं कि मुस्लिम बादशाहों ने ग़ैर-मुस्लिम सुधारकों के कामों के प्रति उदारता का उसूल अपनाया और कभी संकीर्ण दृष्टिता और फ़िरक़ापरस्ती को पास नहीं फटकने दिया । यहाँ हम यू॰ पी॰ के स्कूलों की कक्षा सातवीं में पढ़ाई जानेवाली इतिहास की पुस्तक "हमारा इतिहास" से कुछ लेखांश

उद्धृत करते हैं जिसके लेखक महोदय ईश्वरी दयाल श्रीवास्तव हैं, ताकि सही वस्तुस्थिति सामने आ सके —

इतिहास के प्रामाणिक उद्धरण

मुहम्मद तुग़लक के हालात में लिखा है —

"वह पक्का मुसलमान था, किन्तु शासन-कार्य में धार्मिक व्यक्तियों को दख़ल नहीं देने देता था। हिन्दू-मुसलमान प्रजा को एक-सा समझता था और ग़रीब-अमीर सबके साथ न्याय करता था।"

(हमारा इतिहास, पृ० 31)

फ़ीरोज़ तुग़लक की ज्ञानात्मक मित्रता का उल्लेख करते हुए लिखा है कि —

"नगर कोट की विजय के बाद वहाँ से संस्कृत ग्रंथों को अपने साथ दिल्ली ले गया जिनमें से कई ग्रंथों का अनुवाद उसने फ़ारसी में कराया। इसके अलावा उसने मेरठ और ख़िज्राबाद से अशोक की लाटें दिल्ली मँगवाईं और उन्हें वहाँ स्थापित कराया।" (पृ० 35)

शेर शाह और भारतीय इतिहास

शेर शाह के सम्बंध में अंकित है —

"एक धार्मिक पुरुष होते हुए भी उसमें कट्टरता नहीं थी। इसलिए हिन्दुओं को अपने धर्म के अनुसार जीवन व्यतीत करने की स्वतंत्रता थी।"

आगे लिखता है —

"वह हिन्दू और मुसलमानों दोनों की पाठशालाओं, मंदिरों और मसजिदों को राज्य-सहायता देता था।"

पंडित जवाहर लाल नेहरू का बयान

इन प्रामाणिक उल्लेखों के अलावा अफ़ग़ानों के पक्षपातहीन आचरणों का ज़िक्र करते हुए पंडित जवाहर लाल नेहरू, भारत के भूतपूर्व प्रधान-मंत्री, अपनी सुप्रसिद्ध

चना "डिस्कवरी ऑफ़ इंडिया" के पृष्ठ 204 पर लिखते हैं —

"अफ़ग़ान और मुग़ल शासकों ने विशेष रूप से इस बात का हमेशा ध्यान रखा कि देश की प्राचीन प्रथा व परम्पराओं और नियमों में कोई हस्तक्षेप नहीं किया जाए । उनमें कोई भी मौलिक परिवर्तन प्रचलित नहीं किया गया । भारत का आर्थिक और सामाजिक ढाँचा पूर्ववत् क़ायम रहा । ग़यासुद्दीन तुग़लक़ ने अपने अधिकारियों को स्पष्ट हिदायतें इस बारे में जारी की थीं कि वे देश के प्रचलित विधानों को पूर्ववत् क़ायम रखें और सलतनत के मामलों को धर्म से, जो हर व्यक्ति का निजी और व्यक्तिगत अक़ीदा होता है, बिलकुल अलग रखें ।"

बलात् धर्म-परिवर्तन की कहानियाँ

पंडित जी का यह स्पष्ट और सुलझा हुआ बयान पढ़कर हिन्दुस्तान के मुस्लिम शासकों के ऊपर लगे हुए इस आरोप का खण्डन होता है कि 'वे हिन्दुओं के साथ पक्षपातपूर्ण आचरण अपनाते थे, या उनके धर्म में हस्तक्षेप करते थे ।" सत्य यह है कि यदि ये मुस्लिम शासक थोड़ा भी सख़्ती से काम लेते तो किसी के कथनानुसार दिल्ली, आगरा और अवध जो मुसलमानों की हुकूमत के केन्द्र थे वहाँ तो कम से कम मुसलमानों के अलावा दूसरे धर्म के अनुयायी नज़र न आते । किन्तु इसके ठीक विपरीत इन स्थानों पर आज भी हिन्दुओं की अधिसंख्या है जो इस बात का खुला सुबूत है कि मुसलमान बादशाहों ने धार्मिक मामलों में कभी किसी पर दबाव नहीं डाला ।

शेरशाह और भारत की उन्नति और विकास

शेरशाह को लीजिए, जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है, इतिहासकारों की सर्वसम्मत राय यह है कि भारत के इतिहास में पहली बार उसने एक महान धर्मनिरपेक्ष राज्य की बुनियाद रखी । उसी ने धर्म या सम्प्रदाय के आधार पर भेद किए बिना आम प्रजा के लिए लम्बी-लम्बी सड़कें, सराय, मुसाफ़िरख़ाने, लंगरख़ाने और तालाब बनवाए । जगह-जगह कुएँ खुदवाए । राजमार्गों के दोनों ओर छायादार पेड़ों की क़तारें लगवाईं और सरायों में हर व्यक्ति के ठहरने और खाने-पीने का प्रबंध कराया—

इस प्रजापालक शासक ने न्याय के मामले में हिन्दू-मुस्लिम का भेद समाप्त करके केवल सत्य व न्याय के आधार पर अपनी सलतनत क़ायम की। एक शाही फ़रमान में उसने कहा था —

> "मैं 'फ़रीद ख़ाँ' मुसलमान हूँ लेकिन मैं 'शेरशाह' सभी धर्मवालों का शासक और सेवक भी हूँ। मेरी प्रजा में किसी से धर्म के कारण बेइनसाफ़ी हुई तो मैं ज़ालिम पर बिजली बनकर गिरूँगा और ज़ालिम को मिटा दूँगा या ख़ुद मिट जाऊँगा, या अपनी सलतनत को मिटा दूँगा।"
>
> ('कारवाने वतन' जमहूरियत नम्बर, पृ० 6.)

उसकी न्यायनिष्ठता को देखते हुए डॉक्टर राजेन्द्र प्रसाद लिखते हैं —

> "शेरशाह ने हिन्दू प्रजा की शिक्षा के लिए जागीरें प्रदान कीं, उनकी व्यवस्था स्वयं हिन्दू ही पूरी आज़ादी के साथ करते थे। शेरशाह अपनी उदारता के लिए हर सम्प्रदाय में लोकप्रिय था। उसका एक फ़रमान था कि ग़ैर-मुस्लिमों के उपासना-गृह बिलकुल सुरक्षित रहें। वे अपनी इबादत (उपासना) में बिलकुल स्वतंत्र हैं और उनके उपासना-गृहों की जो मुस्लिम हाकिम सुरक्षा नहीं करेगा उसे पदच्युत कर दिया जाएगा।"
>
> (दावत, समाचार पत्र)

शेरशाह (भारत में सत्ताधारी होने के बाद) सिर्फ़ पाँच साल ही जीवित रहा, लेकिन इस अल्पावधि में उसने ऐसे-ऐसे महानतम कार्य किए जिनको देखकर संसार के बड़े-बड़े इतिहासकार चकित हैं। उसने विभिन्न निर्माण-कार्यों के अलावा अपनी सलतनत में अदालतों का जाल बिछा रखा था। हर वक़्त फ़रयादी की फ़रयाद सुनी जाती थी और मज़लूम (पीड़ित) के साथ न्याय किया जाता था। वह ख़ुद भी दरबार में मुक़द्दमे सुनता था और फ़ैसले करता था।

शेरशाह के फ़ैसले की कुछ सच्ची घटनाएँ

• एक बार एक मंदिर की भूमि किसी क़ाज़ी (मुस्लिम न्यायधीश) ने दबा ली थी। उसे पदच्युत कर दिया गया। उसकी जायदाद ज़ब्त कर ली गई और उसे क़ैद बा-मशक़्क़त की सज़ा दी गई।

• एक सरकारी अफ़सर ने खेत से, खेत के मालिक की अनुमति के बिना, ल काट ली थी । शेरशाह को ख़बर हुई । अफ़सर को बुलवाया गया । उसकी छेदी गई और उसमें अनाज लटाकाया गया और तमाम लश्कर में घुमाया ।

शेरशाह के उत्तरदायित्व की अनुभूति और न्यायनिष्ठा को देखकर हिन्दुस्तान के सेद्ध इतिहासकार श्री ईश्वरी प्रसाद ने उसके निम्नलिखित फ़रमान को अपनी न रचना "हिन्दुस्तान में इस्लामी हुकूमत की मुख़्तसर तारीख़" के मुखपृष्ठ का क बनाया है । शेरशाह का फ़रमान यह है —

> "बादशाहों की सबसे महत्वपूर्ण ज़िम्मेदारी अपनी प्रजा की जान-माल की रक्षा है । उन्हें सभी फ़िरक़ों के लोगों के साथ समान रूप से न्याय और उदारता से काम लेना चाहिए और हुकूमत के शक्तिशाली कर्मचारी-वर्ग को ऐसी स्पष्ट हिदायतें देनी चाहिएँ कि वे अपने इलाक़ों में ज़ुल्म व अत्याचार से पूरी तरह दूर रहें ।"

लों का शासनकाल और ग़ैर-मुस्लिम प्रजा

मुग़लों का शासनकाल भारतीय इतिहास में स्वर्ण-काल कहलाता है । इसका ापक ज़हीरुद्दीन बाबर यद्यपि बाहर से आक्रमणकारी की सूरत में आया था और उसने बहुत-सी लड़ाइयाँ भी लड़ीं, किन्तु थोड़े ही समय में उसने अपने यवहार, दानशीलता और विशाल हृदयता से भारतवासियों का दिल जीत लिया । को अपनी प्रजा के अधिकारों की रक्षा का इतना ध्यान था कि मरते समय उसने े बेटे हुमायूँ को वसीयत की थी —

> "मेरे बेटे ! भारत में विभिन्न धर्मों के लोग रहते हैं । और यह अल्लाह की कृपा है कि उसने तुम्हें इनकी सेवा का अवसर दिया है । इसलिए उनके साथ धार्मिक व साम्प्रदायिक विभेद किए बिना अच्छा व्यवहार करना और कभी पक्षपात को अपने दिल में स्थान नहीं देना और सदा सबके साथ न्याय करना।" (तारीख़े हिन्द)

यदि एक गवेषक की नज़र से बाबर के इस वसीयतनामे को देखा जाए अंदाज़ा हो जाएगा कि उसके सोचने का ढंग क्या था । वह हाकिमों और शासको लिए अनिवार्य समझता था कि वे धार्मिक भेद-भाव की पट्टी आँखों पर न बं बल्कि हिन्दू और मुसलमानों को एक दृष्टि से देखें । वह स्वंय भी इसी विधान अमल करता रहा और अपनी प्रजा की छोटी से छोटी सेवा के लिए भी तैयार र था । इस क्रम में एक सच्ची घटना को, जिसका सम्बंध बाबर से है, हम पाठक की दिलचस्पी के लिए "आईन-ए-तारीख़" भाग-2 (लेखक : अफ़ज़ल हुसैन सा से उद्धृत कर रहे हैं —

"आज से लगभग चार सौ साल पूर्व की घटना है । आगरे में शाही महल के निकट सड़क पर एक मेहतरानी झाड़ू दे रही थी । पास ही उसका नन्हा बच्चा खेल रहा था । सड़क के किनारे एक शस्त्रधारी राजपूत चक्कर लगा रहा था । वह वास्तव में बाबर पर हमला करने की ताक में था, क्योंकि बाबर के हाथ से उसका बाप मारा गया था और उसकी रियासत ज़ब्त कर ली गई थी । उसी समय संयोग से एक मस्त हाथी छूट गया । हाथी के डर से आने-जानेवाले इधर-उधर छिपने लगे । इतने में हाथी का रुख़ मेहतरानी की ओर मुड़ गया । ममता की मारी मेहतरानी बहुत परेशान हुई । उसे अपने से अधिक अपने बच्चे की चिंता थी । उसके मुँह से सहसा एक दर्द भरी चीख़ निकली — 'हाय मेरा बच्चा! कोई है जो मेरे बच्चे को बचाए ।'

दुखी इनसानियत की इस चीख़-पुकार ने राजपूत को प्रभावित तो किया, किन्तु छूतछात के झूठे भेदभाव ने उसके हृदय की आवाज़ को मुर्दा कर दिया । अत: यह सोचकर कि मैं उच्च जाति का राजपूत हूँ, मेहतरानी के बच्चे को कैसे छुऊँ, वह नौजवान खड़ा तमाशा देखता रहा । मेहतरानी की आवाज़ बाबर के कान में भी पड़ी। वह बेचैन हो गया और उसने महल से कूद कर हाथी के सिर पर इस ज़ोर से गुर्ज़ (एक प्राचीन शस्त्र, गदा) मारा कि उसका मुँह फट गया । हाथी के भागने पर बाबर ने अछूत बच्चे को गोद में उठा लिया और महल के अन्दर चला गया ।

राजपूत नौजवान ने बादशाह के प्रजा-पालन का यह दृश्य देखा तो बहुत

प्रभावित हुआ और स्वयं को बादशाह के हवाले कर दिया । बादशाह ने भी उदारता से काम लते हुए उसे क्षमा कर दिया और उसके बाप की रियासत उसे लौटा दी ।''

यह था बाबर — हिन्दुस्तान का पहला मुग़ल शासक । इस घटना से स्पष्ट ा है कि वह अत्यन्त प्रजा-पालक और उदार शासक था । अपने पहलू में दर्दमन्द ा रखता था और पीड़ित व विवश लोगों की मदद को हर समय तैयार रहता था ।

ा चन्देरी और बाबर

राना सांगा को पराजित करने के बाद बाबर अपनी सेना के साथ चन्देरी की बढ़ा जो राजपूताने की एक स्वतंत्र रियासत थी । वक़्त बाबर का साथ दे रहा था । त्र के वक़्त सौभाग्य से राजा चन्देरी वहाँ मौजूद न था और चन्देरी की वीर रानी ं क़िले की रक्षा कर रही थी । बाबर ने उससे कहा, ''ऐ लड़की, क़िले में क्या ः पुरुष मौजूद नहीं है जो मेरे मुक़ाबले पर आए । बाबर की तलवार का एक त के मुक़ाबले में उठना इस्लामी उसूल के विरुद्ध है ।''

यह सुनकर रानी एक व्यंगात्मक मुस्कराहट के साथ बोली, ''सूरमा बने फिरते साफ़ क्यों नहीं मानते कि राजपूतों से अब तुम लोहा नहीं ले सकते ।''

बाबर ने बड़े बुद्धमयी और गंभीरतापूर्ण लहजे में कहा, ''नहीं लड़की, यह बात । अपने अक़ीदे के मुताबिक़ बाबर हर औरत को माँ, बहन और बेटी का दरजा है । उसकी लड़ाई औरतों से नहीं है, बल्कि उन लोगों से है जो उसके रास्ते में ो हैं ।''

रानी बड़ी अवसर-पारखी थी । समय की नज़ाकत के मुताबिक़ वह बाबर से ी, ''तो क्या मैं समझूँ कि एक बाप ने अपनी बेटी, एक भाई ने अपनी बहन के ने पर आक्रमण किया है !''

बाबर उसके इस जवाब से बहुत प्रभावित हुआ । उसके होंठों पर एक विशाल ग्रातपूर्ण मुस्कराहट उदित हुई । वह बोला, ''ऐसी बहादुर लड़कियों को बाबर नी बेटी समझकर गर्व का अनुभव करेगा । बेटी, तुमने हमें एक 'बाप' का शब्द ा है, आज से तुम हमारी बेटी हो ।''

'मिलाप' समाचार पत्र की टिप्पणी

उत्तरी भारत का सुप्रसिद्ध दैनिक समाचारपत्र 'मिलाप" अपने 20 अगस्त, 1967 के अंक में इस ऐतिहासिक दिन को रक्षा-बंधन का दिन कहता है । इसी रानी चंदेरी ने हुमायूँ के हाथ पर राखी बाँधी थी । और हुमायूँ ने रानी चंदेरी को बहन का दरजा दिया । इस तरह राखी के कुछ धागों की लपेट में दो विविध-धर्म इनसान बहन-भाई के पवित्र रिश्ते के बंधन में बँध गए और हुमायूँ ने इस रिश्ते जीवन भर निभाया । इतिहास साक्षी है कि जब चंदेरी पर शत्रुओं ने आक्रमण वि तो बावजूद अपनी व्यस्तता के वह अपनी ग़ैर-मुस्लिम बहन की सहायता को चं पहुँचा और दुश्मन का सिर कुचलकर रानी चंदेरी को चिता में जल जाने परिस्थिति से बचाया ।

अकबर और हिन्दू

इसी विशाल-हृदय और उदार बादशाह का बेटा अकबर आज़म था । उ हिन्दुओं पर यहाँ तक विश्वास किया कि शाही फ़ौज का सेनापति राजा मानसिंह बना दिया । बीरबल और टोडरमल उसके नौ रत्नों में शामिल थे और दूसरे सैक हिन्दुओं को शासन के प्रबंध व व्यवस्था पर नियुक्त किया ।

ज्ञान और हुनर की उन्नति

उस काल में हिन्दू सभ्यता व संस्कृति और साहित्य ने तेजोमय उन्नति जिसका सबसे बड़ा प्रमाण सूरदास की 'सूरसागर,' तुलसी दास जी की 'रामच मानस' जैसे महान् ग्रंथ हैं जो उसी काल में लिखे गए । इनके अलावा फ़ारसी भ में वेद, उपनिषद, महाभारत, रामायण, गीता, पुराण आदि शास्त्रों के अनुवाद और बाद में उर्दू में हुए ।

वास्तुकला उन्नति

वास्तुकला को देखा जाए तो इसमें हिन्दू-मुस्लिम संयुक्त कला स्पष्ट न आती है । हिन्दू परम्पराओं की दृष्टि से रचना-प्रेमी हैं और मुसलमान यथार्थताप्रि

दोनों के विचार, स्वभाव और बुद्धि अलग-अलग थे, किन्तु जब दोनों एक-दूसरे के निकट आए तो दोनों की सभ्यता में एक दृष्टव्य सामंजस्य हुआ । यह सामंजस्य मुसलमानों द्वारा भवन-निर्माण में साफ़ झलकता है । इस तरह हिन्दुस्तान की कलाप्रियता में चार चाँद लगते चले गए । ग्वालियर के महल, वृन्दावन के मंदिर, बीजापुर का गुंबद और दिल्ली का लाल क़िला आदि इसी सहयुक्त निर्माणशैली की जीती-जागती यादगारें हैं । आबिद हुसैन जामई के कथनानुसार — "ये क़िला और भवन हिन्दू और मुस्लिम निर्माण-कला के सामंजस्य के प्रत्यक्ष प्रदर्शक हैं ।

('क़ौमी तहज़ीब का मसला', पृ॰ 118)

बंगाल के प्रसिद्ध इतिहासकार 'डा॰ सर यदुनाथ सरकार' इस स्वर्ण काल पर टिप्पणी करते हुए लिखते हैं —

"यह किस प्रकार संभव है कि मुस्लिम शासकों के उन उपकारों को भुला दिया जाए जो उनकी नेक-नीयती और देश-प्रेम के प्रमाण हैं । उन्होंने भारत को अपनी मातृभूमि समझा । वे देश की भलाई व उन्नति और धन-धान्य की परिपूर्णता से आनंदित होते थे । उन्होंने इसकी सुसज्जा में ख़ास तौर से भाग लिया । बेहतरीन सड़कें बनवाईं, सूचना-संचार के लिए विभाग स्थापित किए, जगह-जगह चौकियाँ क़ायम कीं, भारत के कोने-कोने में मनोरम बाग़-बग़ीचे लगवाए । प्रजा के सैर, मनोरंजन और स्वास्थ्य सुधार के लिए बेहतरीन प्रबंध किए । बेरोज़गारी को समाप्त करने के लिए जगह-जगह कल-कारख़ाने क़ायम किए और हर समुदाय को तरक़्क़ी करने के अवसर प्रदान किए । इस्लामी शासन में अमीर-ग़रीब और छोटे-बड़े का भेद मात्र कहने को था । मुग़ल (मुस्लिम) शासकों ने अछूतों को उभारने और उन्हें शिक्षाभूषण से सुसज्जित करने का उचित प्रबंध किया और उनको शासन के कारोबार में सम्मिलित रखा ।

(सिद्क़े जदीद, 17 - 15 - 57)

एक दूसरे विद्वान अधिवक्ता श्री तेज बहादुर सिन्हा "मुसलमानों ने हिन्दुस्तान और हिन्दू-धर्म संगठित किया" के शीर्षक से एक लेख लिखते हुए फ़रमाते हैं —

"मुसलमान शासकों की कोशिशों से ब्राह्मणों का धर्म पर्दे से बाहर

निकला । वेदों के अलावा सभी ग्रंथों के फ़ारसी अनुवाद हुए, जिन्हें पढ़कर हिन्दुओं का पढ़ा-लिखा वर्ग अपने धर्म से परिचित हुआ । भगवान कृष्ण और राम की परम्पराएँ क़ायम हुईं । उस सामयिक माँग को भी मुसलमानों के शासन-काल में ही गोस्वामी तुलसी दास और भगत सूर दास ने पूरा किया और देश की जनता के विस्तृत वर्ग में धार्मिक सामंजस्य का एहसास पैदा हुआ ।'' (सेहरोज़ा दावत, 22 मई 1964)

सामाजिक उदारता की ये महान मिसालें हैं जिनसे मुस्लिम शासकों की भावनाओं व एहसासों का पता चलता है कि वे लोग अपनी ग़ैर-मुस्लिम प्रजा की भलाई व उपकार, आराम व ख़ुशी तथा आस्थाओं व धारणाओं का कितना ध्यान रखते थे, अनेकानेक घटनाओं से भी जिनका समर्थन होता है ।

जहाँगीर के काल में भ्रष्ट कोतवाल को पद से हटाना

जहाँगीर के शासनकाल में एक कोतवाल, सराय के भटियारे से मिलकर, मुसाफ़िरों के माल पर बलात् क़ब्ज़ा कर लिया करता था । जब जहाँगीर को इसकी ख़बर मिली तो उसने अपने एक पार्षद के ज़रीए जांच कराई । उसने सराय में जाकर भाठियारे को बेचने के लिए अँगूठी दी । कोतवाल को जो ख़बर हुई तो दौड़ा आया और उसने पार्षद पर इलज़ाम लगाया कि ऐ मुसाफ़िर! यह अँगूठी चोरी की है । मुसाफ़िर ने सफ़ाई देते हुए कहा — ''यह माल हमारा है, और हमारे पास और भी ज़ेवर हैं ।'' कोतवाल ने ज़बरदस्ती उसके सारे ज़ेवर अपने क़ब्ज़े में ले लिए । इस घटना को जब जहाँगीर ने सही पाया तो कोतवाल को सख़्त सज़ा दी और हमेशा के लिए पदच्युत कर दिया । (हिन्दुस्तान पर मुग़लिया हुकूमत, पृ० 187)

जहाँगीर के न्याय की दूसरी घटना

जहाँगीर के काल में न्याय और इनसाफ़ की यह अकेली मिसाल नहीं है, बल्कि फ़रियादियों को न्याय देने के लिए उसके महल के दरवाज़े हर वक़्त खुले रहते थे और जहाँगीर न्याय के रास्ते में किसी भी मस्लहत को रुकावट नहीं बनने देता था ।

अत: जब दरबार के एक मशहूर सरदार अमीर ख़ाँ आलम के भतीजे होशंग

ख़ाँ ने किसी साधारण अपराध पर एक ग़रीब आदमी को मार डाला और इसकी सूचना जहाँगीर को हुई तो उसने मुक़द्दमे की सुनवाई के बाद होशंग को सज़ा-ए-मौत का हुक्म सुना दिया । यद्यपि इतिहासकारों की राय में उसका यह हुक्म राष्ट्रीय हितों के सरासर विरुद्ध था, किन्तु ख़ान आलम की सारी कोशिशों के बावजूद जहाँगीर अपने आदेश को बदलने पर तैयार न हुआ और होशंग ख़ाँ को क़त्ल के जुर्म में अपनी जान से हाथ धोने पड़े ।

बंगाल के गवर्नर को सज़ा-ए-मौत

एक और घटना एक ग़रीब बुढ़िया और बंगाल के गवर्नर सैफ़ुद्दौला की है जो जान बूझकर अपनी सरदारी के घमण्ड में एक बुढ़िया के बच्चे को गश्त के वक़्त हाथी के पाँव के नीचे रौंदता चला गया था और बुढ़िया के रोने-चिल्लाने की कोई परवाह नहीं की थी । बूढ़ा और बुढ़िया फ़रियाद के लिए दिल्ली पहुँचे । बादशाह से इनसाफ़ माँगा । उनके हालात सुनकर बादशाह को बहुत दुख हुआ । उसने उसी वक़्त बंगाल के हाकिम को दरबार में हाज़िरी का हुक्म भेजा । हाकिम आगरा आया तो बादशाह के हुक्म से उसको एक रस्सी से बाँध दिया गया । बूढ़े और बुढ़िया को मस्त हाथी पर बिठा दिया गया और हाथी को सैफ़ुद्दौला बंगाल के गवर्नर पर चलवा दिया गया, जिससे वह मर गया ।

इस वृत्तांत में यह याद रखना चाहिए कि सैफ़ुद्दौला बादशाह का बचपन का दोस्त था । बादशाह ने अपने दोस्त की अन्तिम क्रिया-कर्म का प्रबंध स्वयं किया और दो माह तक उसका शोक मनाया । एक दिन बादशाह ने दरबार में कहा भी —

> ''यद्यपि सैफ़ुद्दौला से मैं प्यार करता था किन्तु बादशाह तो न्याय की जंजीरों में जकड़ा हुआ है । उसके लिए न्याय के सिवा कोई चारा नहीं ।''
>
> (तुज़्के जहाँगीरी)

शाहजहाँ के काल में प्रजा की रक्षा

जब किसी इलाक़े से सेना गुज़रती तो वहाँ की प्रजा की रक्षा का पूरा इंतिज़ाम किया जाता था । सन् 1633 ई॰ में शाहजहाँ लाहौर जा रहा था तो तीरंदाज़ों को रास्ते के एक ओर और बन्दूक़धारियों को दूसरी ओर खड़ा कर दिया ताकि शाही

फ़ौज खेतों को नुक़सान न पहुँचा सके। इसके बावजूद कुछ न कुछ नुक़सान पहुँच जाने की शंका पर प्रजा के नुक़सान का मुआविज़ा अदा किया गया।
(तारीख़े हिन्द, लेखक : प्रो॰ रामप्रसाद खोसला, पटना विश्वविद्यालय)

यह और इस प्रकार के अन्य प्रजा-पालन के वृत्तांतों से मध्यकालीन भारतीय इतिहास भरा पड़ा है। इसलिए ज़्यादा और घटनाएँ न लिखकर हम यहाँ एक वैदिक-धर्मी लेखक महाशय सुख समेती राय भण्डारी की गवाही उद्धृत करते हैं, जो सटीक भी है और मुस्लिम-शासनकाल पर एक टिप्पणी भी —

मुग़ल शासन-काल पर एक ग़ैर-मुस्लिम वद्वान की राय

राय जी लिखते हैं :—

"शेरशाह, अकबर, और जहाँगीर आदि मुस्लिम बादशाहों के ज़माने में हिन्दू ऊँचे पदों पर पहुँच जाया करते थे। नस्ली भेद-भाव की दीवार उनकी तरक़्क़ी की राह में कोई अर्थ नहीं रखती थी। उस वक़्त हिन्दू गवर्नर थे, फ़ौज़ों के जर्नैल थे, ज़िलों और प्रान्तों के हाकिम थे। प्रधान-मंत्री के पद के लिए बिना किसी भेद-भाव के हिन्दुओं का चुनाव कर लिया जाता था। हिन्दुओं और मुसलमानों में किसी प्रकार का कोई राजनैतिक अन्तर नहीं था। राजनैतिक और आर्थिक दृष्टिकोण से मुसलमानों की हुकूमत उतनी ही देशी थी जितनी हिन्दुओं की। मुसलमानों ने कभी अपनी प्रजा के हथियार छीनकर उनको निरीह और कमज़ोर बनाने की घटिया और कायरतापूर्ण कोशिश नहीं की। उनके ज़माने में सभी को हथियार धारण करने का हक़ हासिल था। फ़ौज के सभी लोग यहीं से भरती किए जाते थे। उन्होंने (शासकों) ने कभी ईरान, अफ़ग़ानिस्तान और अरब से फ़ौज के लिए रंगरूट नहीं मँगवाए। उन्होंने अपने असली मुल्क, यानी जहाँ से वे आए थे, की तरक़्क़ी के लिए हिन्दुस्तान की शिल्प व दस्तकारी को ख़ाक में मिलाने की ग़लत कोशिश कभी नहीं की। उन्होंने हिन्दुस्तान की शिल्प व दस्तकारी, यहाँ की कलाप्रियता और यहाँ के ज्ञान व साहित्य को हर प्रकार से प्रोत्साहित किया।"

(भारत दर्शन, पृ॰ 19 - 188)

यह उद्धरण पिछले कई सौ वर्ष के इतिहास का दर्पण है जिसके अन्दर हम मुस्लिम शासकों की हुकूमतों की वास्तविक तस्वीर देख सकते हैं और अंदाज़ा लगा सकते हैं कि उन्होंने अपनी हिन्दू प्रजा के साथ कैसा व्यवहार किया और हिदुस्तान की तरक़्क़ी और निर्माण के लिए वे क्या योजनाएँ रखते थे ।

दूसरी बात यह कि मुस्लिम शासकों ने हिन्दुस्तान को अपनी मातृभूमि बना लिया । वे यहाँ की हर चीज़ को अपनी चीज़ समझकर उसकी रक्षा करते रहे तथा यहाँ के रहनेवालों के साथ घुल-मिल गए । उनके साथ रिश्ते-नाते स्थापित किए जो आज तक क़ायम हैं । यह विशाल सभ्यता, उदारतामयी संस्कृति, संयुक्त भाषा नदी के पानी की तरह ऐसा अटूट सिलसिला है जो सदियों से जारी है ।

हममें से कौन बता सकता है कि ताजमहल, लाल क़िला आदि के निर्माण में किस वर्ग के मज़दूरों का पसीना अधिक बहा है । कोई बड़े से बड़ा हिसाबदाँ भी सही अंदाज़ा नहीं लगा सकता है कि हिन्दुस्तान को वर्तमान उन्नति की सीमा तक खींच लाने में हिन्दू और मुसलमानों का अलग-अलग कितना योगदान है । इस संदर्भ में भारत के भूतपूर्व प्रधानमंत्री पंडित जवाहर लाल नेहरू के निम्नलिखित बयान का अध्ययन दिलचस्पी से ख़ाली नहीं होगा । आप मुस्लिम शासकों की शासन-प्रणाली पर टिप्पणी करते हुए लिखते हैं —

पंडित नेहरू का मत

> "जिसे भारत में इस्लामी शासनकाल या मध्यकाल कहा जाता है, अपने साथ नई क्रांतियाँ लाया । वे क्रांतियाँ अहम ज़रूर थीं, किन्तु उनका असर ऊपरी सतह पर रहा । उन्होंने भारतीय जीवन पद्धति के प्राचीन क्रम को बिगाड़ा नहीं । आक्रमणकारी जो अपने से पहलों की तरह इस देश में उत्तरी व पश्चिमी रास्ते से प्रवेश हुए, धीरे-धीरे भारतीय समाज में घुल-मिल गए और उसकी ज़िन्दगी का अंश बन गए । उनका शासन, भारतीय शासन बन गया और आपस में शादी-ब्याह के सम्बंध स्थापित होने पर क़ौमी हैसियत से भी उनमें कोई अकेलापन बाक़ी नहीं रहा । कुछ मिसालों को छोड़कर इन शासकों ने इरादे और प्रयोजन के साथ इसी कर्म की कोशिश की कि जनसामान्य की परम्पराओं व प्रथाओं और

जीवन-पद्धति में कोई हस्तक्षेप न किया जाए । वह हिन्दुस्तान को अपना घर समझते थे और कोई बाहरी सम्बंध न रखते थे । भारत उस दौर में पहले के समान एक स्वतंत्र देश रहा ।''

(Nehru's 'Discovery of India', p - 193)

साहिल मानिकपुरी का बयान

इसी संदर्भ में मान्यवर साहिल मानिकपुरी का निम्न उद्धृत लेखांश जो महाशय के एक लेख ''उर्दू शायरी और क़ौमी यकजहती'' से लिया गया है विचारणीय है, जिसमें उन्होंने मुग़ल दौर के हालात का जायज़ा लेते हुए फ़रमाया है —

> ''यह ऐतिहासिक सच्चाई है कि मुग़लों ने अपनी विशाल-हृदयता से भारत को एक आदर्श शासन में बदल दिया था, वहीं दूसरी विद्याओं व कलाओं की सरपरस्ती करके भारतीय प्रजा के दिल भी जीत लिए थे । उनकी शासन-व्यवस्था में प्रजातांत्रिक चिन्तन प्रणाली का समावेश था । यही कारण है कि देश की व्यवस्था व प्रबंध में मुसलमानों के साथ-साथ हिन्दुओं का एक प्रतिष्ठित वर्ग भी सम्मलित था ।''

दक्षिणी भारत और मुस्लिम शासक

उत्तरी भारत की तरह दक्षिणी भारत में भी मुसलमानों ने अपने बाहुबल से बहुत सी छोटी-बड़ी रियासतें क़ायम कीं । इतिहास के अध्ययन से पता चलता है कि चाहे कोई छोटी रियासत हो या बड़ी, सभी रियासतें उन परम्पराओं को अपने अन्दर समोए हुए थीं जो मुसलमानों के कर्त्तव्यों में शामिल हैं । अपने वादों की पाबंदी करना, इनसाफ़ का दामन किसी हाल में न छोड़ना, हर जीव से प्रेम से पेश आना और जो ग़ैर-मुस्लिम उनकी संरक्षा में थे उनसे अत्यंत उदारता और दानशीलता का सम्बंध रखना उनकी शासन-विधि में शामिल था । यहाँ तक कि बहमनी सलतनत का तो नाम भी गाँगू नामक ब्राह्मण की दोस्ती की याद में रखा गया था । अत: आर्य समाजी पत्रिका 18 जुलाई, सन् 1923 ई॰ के प्रकाशन में बहमनी सलतनत के नाम पर रौशनी डालते हुए लिखती है :—

"भारत में जहाँ-जहाँ इस्लामी हुकूमत क़ायम हुई हिन्दुओं के साथ समानता का व्यवहार किया गया और सलतनत में बराबर हिन्दुओं को मंत्रियों के पद पर नियुक्त किया जाता रहा। लगभग हर ज़माने में हिन्दू प्रधान सेनापति और प्रधानमंत्री तक होते रहे। दक्षिण की बहमनी सलतनत के ज़माने में हिन्दुओं को जो उन्नति प्राप्त थी उससे इतिहास भरे पड़े हैं। उनकी स्थिति सविस्तार लिखना बयान को लम्बा करना है। इस सलतनत के संस्थापक हसन ने 'गाँगू बहमनी' की पदवी अपने ख़ानदान के लिए स्वतंत्र शासक होकर इख़्तियार की। यह पदवी उसने एक ब्राह्मण गाँगू की दोस्ती की यादगार में धारण की और गाँगू ब्राह्मण को अपना प्रधान मंत्री भी नियुक्त किया।"

(अख़बार केसरी, भाग - 3, अंक 174)

पत्रिका के योग्य लेखक ने इसके बाद उन हिन्दुओं के नाम भी गिनाए हैं जो बहमनी सलतनत में ऊँचे पदों पर नियुक्त रहे हैं; जिनके इशारों पर सलतनत का पूरा प्रबंध व बंदोबस्त चलता था। इसके बाद इसी पत्रिका के इसी अंक में एक सुप्रसिद्ध पुर्तगीज़ी इतिहासकार मारया सोज़ा की राय भी नीचे लिखे शब्दों में उद्धृत की है, जो उसी दौर में हिन्दुस्तान आया था।

पुर्तगीज़ी इतिहासकार की आँखों देखी गवाही

"हिन्दू-मुसलमान आपस में प्रेम से रहते हैं और एक-दूसरे की सेवा करते हैं तथा हिन्दू बड़े-बड़े ओहदे व पदों पर नियुक्त हैं। कहने की बात यह कि उनके साथ किसी प्रकार का भेद-भावपूर्ण व्यवहार नहीं किया जाता। हिन्दू अपनी धार्मिक प्रथा व परम्परा स्वतंत्रता से बरतते हैं। मुसलमान हिन्दुओं की धार्मिक भावनाओं का बहुत ध्यान रखते हैं।"

पुर्तगीज़ी इतिहासकार, जो बिलकुल निष्पक्ष है, के लैखिक प्रमाणों ने इस बात की पुष्टि कर दी है कि दक्षिण के सुलतान वास्तव में हिन्दुओं से बड़ी सहानुभूति रखते थे, अत्यंत न्यायनिष्ठ और विशाल हृदय थे। उन्होंने हिन्दू और मुसलमान के भेद के बजाय योग्यता के मुताबिक़ हिन्दुओं को भी ऊँचे पदों पर नियुक्त किया।

प्रधान सेनापति और प्रधान मंत्री का पद साधारण पद नहीं होता। रियासत के प्रबंध व व्यवस्था की निर्भरता इन्हीं मूल पदों से जुड़ी है। क्या आज से पाँच सौ साल पहले संसार की और कोई क़ौम किसी दूसरे क़ौम के किसी योग्य व्यक्ति को ऐसे महत्वपूर्ण पदों पर नियुक्त कर सकती थी? उत्तर 'नहीं' के अतिरिक्त कुछ नहीं, लेकिन मुसलमानों की यह ऐसी विशेषता है जिसकी प्रशंसा लाला लाजपत राय भी किए बिना न रह सके। अत: आप अपनी किताब 'शिवा जी' के पृष्ठ 29 पर लिखते है।

> ''बहमनी ख़ानदान ने सामान्यत: हिन्दुओं के साथ बहुत ही अच्छा सुलूक किया। उसके तमाम पहाड़ी क़िलों में हिन्दू फ़ौज रहती थी। सारी आर्थिक व्यवस्था लगभग हिन्दुओं के हाथ में थी। हिन्दुओं को सेना में बड़े-बड़े पद दिए जाते थे और स्पष्टत: उनपर भरोसा किया जाता था।''
>
> आगे चलकर लाला जी बीजापुर और अहमद नगर के बारे में लिखते हैं — ''बीजापुर और अहमद नगर दोनों रियासतों ने भी सामान्यत: अकबर की पैरवी की। दोनों रियासतों की आर्थिक व्यवस्था हिन्दुओं के हाथ में थी। पहाड़ी क़िले हिन्दुओं के क़ब्ज़े में रहे और वैसे भी हिन्दुओं को बहुत भरोसावाले और ज़िम्मेदारी के पद मिलते रहे। आदिल शाह के शासन काल में एक हिन्दू अधिकारी 'बारह- हज़ारी' पर नियुक्त रहा। उसके ख़ानदान ने पहले-पहल हुक्म दिया कि फ़ारसी के बजाय मराठी भाषा कार्यालयों में प्रयोग की जाए। अतएव उसी दिन से सरकारी कार्यालयों में मराठी प्रयोग की जाने लगी। इस ख़ानदान की हुकूमत में बराबर हिन्दुओं का ज़ोर रहा।'' (शिवाजी, पृष्ठ 30 से 31)

लाला लाजपत राय अपने युग के बुद्धिजीवी और चिंतक पुरुष माने जाते थे और यह तो सभी जानते हैं कि वे मुसलमान नहीं थे। जो बात उन्होंने कही है वह किसी से आतंकित होकर या किसी की मुहब्बत से मजबूर होकर नहीं कही है, बल्कि हक़ीक़त यह है कि दक्षिण की मुस्लिम हुकूमतों का रवैया अपनी हिन्दू प्रजा के साथ इतना प्रतिभाशील रहा है कि उसपर राजनैतिक, धार्मिक और सामाजिक किसी पहलू से उँगली नहीं उठाई जा सकती। इसी संदर्भ में महाराष्ट्रीय लीडर जस्टिस राना डे का हिन्दुओं की धार्मिक स्वतंत्रता और अन्य अधिकारों के बारे में यह न्यायोचित वक्तव्य पढ़ने के योग्य है। वे लिखते हैं —

> "मुसलमानों के शासनकाल में हिन्दुओं को बहुत कुछ आज़ादी हासिल थी। मुस्लिम सुलतानों ने सैनिक विभाग और आर्थिक स्वामित्व हिन्दुओं ही के सुपुर्द कर रखे थे। उन्होंने हिन्दू मंदिरों को भी जागीरें प्रदान कीं। हिन्दू वैद्यों (चिकित्सकों) को सरकारी अस्पतालों का इंचार्ज बनाया और कई ब्राह्मण ख़ानदानों को पीढ़ी दर पीढ़ी जागीरें प्रदान कीं।"

उपरोक्त बयानों से इस बात का सुबूत मिलता है कि दक्षिण की मुस्लिम हुकूमतों ने अपनी हिन्दू प्रजा का मनोबल बढ़ाने और उनकी दिलजोई करने में कोई कमी न रख छोड़ी। उनके धर्म, उनके उपासनागृह और उनकी परम्पराओं व प्रथाओं का पूरी तरह सम्मान किया। इन बयानों से यह भी स्पष्ट होता है कि मुस्लिम शासकों ने हिन्दुओं को शासन की व्यवस्था व प्रबंध में बराबर का भागीदार रखा और यदि कहीं हिन्दुओं के साथ कोई अनुचित काम हुआ है, तो उसके ज़िम्मेदार यही हिन्दू प्रधानमंत्री और सेनापति थे जो उस वक़्त मुस्लिम हुकूमतों के प्रमुख और शासन-संचालक थे। ऐसी विषादपूर्ण घटनाओं के पीछे कुछ ख़ानदानों के आपस में तनाव भी सम्मिलित थे।

मैसूर के सुलतान

दक्षिण के मुस्लिम शासकों के साथ मैसूर के सुलतानों का ज़िक्र न करने से ऐतिहासिक रिक्तता रह जाएगी। इसलिए यहाँ हैदर अली और टीपू सुलतान की चर्चा सरसरी तौर पर की जा रही है क्योंकि उन्होंने भी निहायत न्यायनिष्ठा और उदारता से शासन किया और हिन्दुओं के साथ हमेशा स्नेह और प्यार का बर्ताव किया। अत: डिप्टी लाल निगम साहब 'सवानेह हैदर अली' में लिखते हैं —

> "हैदर अली के दो मंत्री ब्राह्मण थे और शामा ब्राह्मण उसका ख़ास सचिव था।"

गांधी जी की दोटूक टिप्पणी

गांधी जी ने एक बार अपनी पत्रिका 'यंग इंडिया' में टीपू सुलतान के देश-प्रेम की प्रशंसा करते हुए लिखा था —

"टीपू सुलतान मैसूर का एक बादशाह गुज़रा है । उसने अठारहवीं शताब्दी के अंत में अंग्रज़ों से भीषण युद्ध किया था । उस वक़्त यदि निज़ाम और मराठे अंग्रेज़ों का साथ न देते तो टीपू अंग्रेज़ों को हिन्दुस्तान छोड़ने पर मजबूर कर देता । टीपू सुलतान जितना साहसी था उतना ही खुदा से डरनेवाला और निरपेक्ष था । उसकी निगाह में हिन्दू-मुसलमान सभी बराबर थे। किसी में वह हस्तक्षेप न करता था ।" (दावत)

गांधी जी के बयान से दो बातों पर रौशनी पड़ती है —

1. टीपू सुलतान के दिल में देश-प्रेम की भावना कूट-कूटकर भरी थी और उसने अपने देश से अंग्रेज़ों को निकालने की इंतिहाई कोशिश की और इसी कोशिश में, जैसा कि सभी जानते हैं, युद्ध क्षेत्र में शहीद हो गया । यदि कुछ दूसरे लोग उसका रास्ता न रोकते तो आज भारत का इतिहास कुछ और होता ।
2. वह पक्षपातहीन और खुदा से डरनेवाला था । वैयक्तिक स्तर पर उच्च चरित्र का मालिक था और अपनी ग़ैर-मुस्लिम प्रजा के साथ विशाल हृदयता और उदारता से पेश आता था ।

टीपू सुलतान और मंदिरों को अनुदान

खोज से पता चला है कि मालेरकोटला में जो वैष्णो मंदिर है , उसमें दो चांदी के बर्तन हैं, जिनमें यह वाक्य अंकित है.—

"ये बर्तन टीपू सुलतान की ओर से भेंट-स्वरूप, मंदिर को दिए गए हैं ।"

- मालाबार का गुरुदापुर मंदिर अपनी प्राचीनता और माहात्म्य के लिहाज़ से काफ़ी प्रसिद्धि रखता है और हिन्दुस्तान के हर क्षेत्र से इस मंदिर के दर्शन के लिए लोग जाते हैं । सुलतान को मालाबार पर चढ़ाई करते समय जब अपने कुछ सिपाहियों के विरुद्ध यह शिकायत मिली कि वे इस मंदिर को नुक़सान पहुँचा रहे हैं तो मुल्ज़िमों को अत्यंत कड़ी सज़ाएँ देकर मन्दिर के नुक़सान की भरपाई यूँ कराई कि इस शहर की सारी (सरकारी) आमदनी उस मन्दिर के लिए वक़्फ़ कर दी । (तारीख़े मैसूर)

एक बार मराठों की लूट-मार के दौरान एक मंदिर को बहुत नुक़सान पहुँचा। जगत्‌गुरु ने मराठों की इस हरकत से टीपू सुल्तान को अवगत कराया तो उसे अत्यंत दुख हुआ और उसने कई गाँवों को मन्दिर के लिए वक़्फ़ करने के अलावा जगत्‌गुरु की सवारी के लिए हाथी, पालकी, चाँदी के चनूर, मशालें, नौबत, नगाड़ा और झण्डा भिजवाया, और मन्दिर की मूर्ति 'सारा देवी' के लिए बहुमूल्य वस्त्र भिजवाए।

ये उपहार और अनुदान (वक़्फ़) आज भी उन मन्दिरों में मौजूद हैं और सुलतान के उदारतापूर्ण सुलूक की पुष्टि करते हैं।

अंत में एक घटना जिसका सम्बंध सामाजिक रिश्तों से है, सुनने के योग्य है जो विभिन इतिहासों में लिखित है —

टीपू सुलतान और होल्कर की बीवी

एक अवसर पर कुछ औरतें क़ैद होकर आईं। उनमें महाराजा होल्कर की बीवी भी थी। सुलतान को जब मालूम हुआ तो तत्काल वहाँ पहुँचा और पूछा — "तुममें महाराज होल्कर की पत्नी कौन है ?" एक संभ्रान्त महिला आगे बढ़ी और कहा— "मैं होल्कर की बीवी हूँ और अगर आप टीपू सुलतान हैं तो हमें बातएँ कि हमारे साथ क्या सुलूक करेंगे ?"

सुलतान ने कहा — "एक भाई अपनी बहनों के साथ क्या सुलूक कर सकता है! मैं आपको यक़ीन दिलाता हूँ कि जल्द ही आपको आपके वारिसों के पास पहुँचा दिया जाएगा।"

इसके बाद सुलतान ने अपनी कमर से हरे रंग का कमकस (पट्टा) खोलकर होल्कर की बीवी के सिर पर डाल दिया और कहा —" होल्कर की बीवी को मेरे सामने नंगे सिर नहीं रहना चाहिए। मैं इस देश की किसी औरत को इस दशा में नहीं देख सकता।"

सुलतान के जाने के बाद होल्कर की बीवी ने एक मराठा औरत से कहा कि— "यह इनसान नहीं देवता है, इसके साथ जंग करना पाप है।" थोड़ी देर में फ़ौज का एक अधिकारी हर औरत को एक-एक चादर वितरित कर गया और इसके बाद जल्द

ही अत्यन्त आदर व सम्मान के साथ सभी औरतों को उनके घर पहुँचा दिया गया।

(दावत, 19 फ़रवरी, सन् 1964 ई०)

वास्तविकता यह है कि क़ब्ज़े में आई हुई दुश्मनों की औरतों को रिहा करके इज़्ज़त व सम्मान के साथ उनके घर पहुँचा देना किसी देवता ही का काम हो सकता है।

औरंगज़ेब आलमगीर और ग़ैर-मुस्लिम

मुग़ल बादशाहों में औरंगज़ेब आलमगीर के व्यक्तित्व को जितना बदनाम किया गया है, उतना संभवतः किसी और को नहीं। हर इतिहास में उसको ज़ालिम, सितमगर और हिन्दुओं के क़ातिल की उपाधि से याद किया गया है। हालांकि दूसरी तरफ़ उन्हीं इतिहासों में उसके ईशभय, प्रजा-पालन और न्यायनिष्ठ स्वभाव की भी बड़ी प्रशंसा की गई है। अब दोनों बातों में कौन-सी बात सही है इसका अंदाज़ा लगाना आज तीन सौ साल बाद भी ज़्यादा मुश्किल नहीं है। हम यहाँ कुछ उद्धरण ऐसे निष्पक्ष इतिहासकारों के प्रस्तुत कर रहे हैं, जिन्होंने पक्षपाती नहीं, न्यायपूर्ण दृष्टि से इतिहास का अध्ययन किया है। उनकी परिपूर्ण राय यह है कि वह एकेश्वरवादी था। अय्याशी बिलकुल पसंद नहीं करता था और वह अपने धर्म का पूरी तरह अनुपालक था। उसका तरीक़ा उपद्रवी और अत्याचारी नहीं था।

यह बात सोचने की भी है कि वह, जो सारी-सारी रात जागकर इबादत करता हो, अपना पेट काटकर मुहताजों का पेट भरता हो, एक महान राष्ट्र का महान शासक हो कर भी क़ुरआन लिखकर और टोपियाँ सिलकर अपना जीवन-यापन करता हो वह किस प्रकार लोगों पर ज़ुल्म कर सकता है और किस तरह अपनी प्रजा को इतने बड़े देश पर, जो अफ़ग़ानिस्तान से बर्मा और कश्मीर से कन्या कुमारी तक फैला हो, साठ साल तक हुकूमत कर सकता है। हाँ, यह बात अवश्य थी कि वह नाच-गाने व नृत्य और व्यर्थ के अमोद-प्रमोद और खेल-तमाशों के विरुद्ध था और उसने इन चीज़ों की रोक-थाम की कोशिश सख़्ती से की। दर्शन का तरीक़ा जो इस्लामी अक़ीदों के ख़िलाफ़ था, उसने बंद कराया। तकड़-भकड़, मौज-मस्ती और भोग-विलासिता के साधनों पर पाबंदी लगाई। काव्य-विभाग बन्द कर दिया गया था। बादशाह-परस्ती, नज़राने-चढ़ावे की परम्पराएँ जो अकबर के दौर से चली आ रही थीं, उसने समाप्त कर दीं।

वह उन शासकों में से था जो हुकूमत को अल्लाह की धरोहर मानते हैं और न तो प्रजा की सम्पत्ति को अय्याशी के कामों में बरबाद करते हैं और न ही ने समय को व्यर्थ बातों में बरबाद करते हैं। आलमगीर भी अपने कर्तव्यों को अच्छी तरह पहचानता था। वह सलतनत के कामों को खुदा की अमानत झकर दिन-रात खुदा के बंदों की ख़िदमत में व्यस्त रहता था। अतएव, बादशाह व्यस्तताओं को देखकर एक शुभचिन्तक अधिकारी ने मशविरा दिया कि ाँपनाह! इतना ज़्यादा काम न करें, अन्यथा ख़तरा है कि कहीं सेहत न ख़राब हो ए। तो इसके जवाब मे औरंगज़ेब ने निम्नोद्धृत पत्र जवाब में लिखा। यह पत्र की मनोभावनाओं का द्योतक है :—

लमगीर खुद अपनी नज़र में

"उस सर्वशक्तिमान ने मुझे दुनिया में इस उद्देश्य के लिए नहीं भेजा कि मैं मेहनत व कठिनाइयाँ उठाकर सिर्फ़ अपनी ज़िंदगी सही रखूँ, बल्कि इसलिए भेजा कि मैं औरों के लिए जिऊँ। मेरा कर्त्तव्य यह नहीं है कि अपने लिए सुख-आराम के संसाधन जुटाऊँ, बल्कि यह है कि अपनी प्रजा की खुशी को अपनी खुशी समझूँ, मेरे बड़प्पन के अनुकूल बात तो यह है कि अपनी प्रजा के आराम व भलाई को सदा अपनी नज़र के सामने रखूँ और उनकी सुख-शांति में हरगिज़ दख़ल न दूँ, उस वक़्त तक कि इनसाफ़ तक़ाज़ा न करे या शाही इख़्तियारों (अधिकारों) और राष्ट्र-हित को क़ायम रखने का सवाल बीच में न आ पड़े।"

(रुक़आते आलमगीरी, शाहाने इस्लाम, पृ॰ 53 के हवाले से)

ये विचार किसी ऊँची फ़ितरत के इनसान के दिल व दिमाग़ ही में उभर सकते । ये बातें मात्र औपचारिक तौर पर भी नहीं कही गई हैं क्योंकि उनके पीछे गज़ेब का अस्सी वर्षीय चरित्र है। इतिहासकारों की सर्वसम्मत राय यह है कि ने न कभी ज़्यादा शानदार भोजन खाया और न दिखावे के साज़-सामान इकट्ठा ा। वही सादा लिबास, मामूली दर्जे का खाना और हर वक़्त काम में व्यस्त रहना की दिनचर्या थी। भोग-विलास की लोलुपता और व्यर्थ के मनोरंजन से उसे रत थी। प्रजा की बेचैनी से उसका दिल बेचैन हो जाता था और जब तक

साधारण से साधारण आदमी की भी अर्ज़ी स्वयं नहीं सुन लेता था, उस वक़्त त
उसे सुकून नहीं मिलता था। कोई दिन ऐसा न जाता था जिसमें दो-दो, तीन-तीन ब
दरबार न लगता हो। बादशाह तल्लीनता और पूरे ध्यान के साथ सबकी फ़रय
सुनता था और स्वयं उनकी अर्ज़ियों व प्रार्थना-पत्रों पर अपने हाथ से आदेश लिख
था। डॉ॰ करैरी ने अठहत्तर साल की आयु में आलमगीर को देखा था। उस
बयान है —

"वह साफ़ व सफ़ेद मलमल की पोशाक पहने हुए बुढ़ापे की लाठी के सहारे सरकारी अफ़सरों के झुरमुट में खड़ा था। फ़रियादियों की अर्ज़ियाँ खुद लेता जाता था और बिना ऐनक उन्हें पढ़कर ख़ास अपने हाथ से दस्तख़त करता जाता था। उसके प्रफुल्लित एवं संतुष्ट चेहरे से साफ़ प्रकट था कि वह अपनी व्यस्तता से अत्यंत खुश और प्रसन्न था।"

(तर्जुमा तारीख़ इनफ़िसटन, पृ॰ 23)

औरंगज़ेब आलमगीर के काल में हिन्दुओं को राजनैतिक स्वतंत्रता

सबसे बड़ी बात जो इस बयान से ज्ञात हुई वह यह कि प्रजा के किसी व्यि
को उसके पास तक पहुँचने में बिलकुल कोई रोक-टोक न होती थी। छोटे-से-छो
आदमी भी उससे हर समय मिल सकता था। इसमें किसी धर्म व सम्प्रदाय की पाब
नहीं थी। इसके अलावा इतिहास के अध्ययन से पता चलता है कि सलतनत
मौलिक पदों पर हज़ारों ग़ैर-मुस्लिम काम करते थे। जसवन्त सिंह, जय सिंह श
फ़ौज के व्यवस्थापक थे। रघुनाथ खत्री (राय रायान) और बनवारी लाल मुंशी वे ल
हैं जो हुकूमत के प्रबंध और संचालन में ऊँचे पदों पर नियुक्त थे, जिनपर बादश
पूरी तरह भरोसा करता था। इनके अलावा पारसी, ईसाई और यहूदी भी अ
योग्यता और प्रतिभा के अनुसार अनेक क्षेत्रों और विभागों में काम करते थे। उ
बादशाह सरकारी नौकरी के सिलसिले में धार्मिक भेद-भाव नहीं बरतता था। मिर
टी॰ डब्लू॰ आर्नल्ड ने अपनी सुप्रसिद्ध किताब "प्रीचिंग आफ़ इस्लाम" में आलम
के भेदभाव-रहित व्यवहार और उदारता का एक वाक़िआ उद्धृत किया है। वे लिखते हैं–

"औरंगज़ेब के फ़रमानों और पत्रों की एक हस्तलिखित प्रति में, जो अभी तक प्रकाशित नहीं हुई है, धार्मिक आज़ादी के वे व्यापक और सटीक

उसूल दर्ज हैं, जिन्हें हर एक बादशाह को अन्य धर्मों को माननेवाली प्रजा के साथ बरतना चाहिए । जिस घटना से संबंधित यह उसूल बयान हुआ है वह यह है कि आलमगीर को किसी व्यक्ति ने अर्ज़ी दी कि दो पारसी कर्मचारी जो तनख़ाह बाँटने पर नियुक्त थे, इस कारण से पदच्युत कर दिए जाएँ कि कुरआन पाक में आया है—

"ऐ ईमानवालो ! मेरे और अपने दुश्मनों को दोस्त मत जानो ।"
(कुरआन 60:1)

आलमगीर ने अर्ज़ी पर लिखा —"यह आयत इस मौक़े के लिए नहीं है ---। ग़गे इस कथन के समर्थन में यह आयत उद्धृत की —

"तुमको तुम्हारा दीन (धर्म) और हमको हमारा दीन ।"
(कुरआन, 109:6)

बादशाह ने यह भी लिखा कि जो आयत अर्ज़ी लिखनेवाले ने लिखी है, अगर ही सलतनत के कार्य करने की प्रणाली होती तो हमको चाहिए था कि इस देश के भी राजाओं और उनकी प्रजा को तबाह कर देते । किन्तु यह किस तरह हो सकता ? । बादशाही नौकरियाँ लोगों को उनकी योग्यता के अनुकूल मिलेंगी, किसी और लेहाज़ से नहीं मिल सकतीं । (प्रीचिंग आफ़ इस्लाम, पृ० 287)

शाहजहाँ ने आन्ध्र के राजा इन्द्रमान को निरंतर हुक्म से उद्दण्डता अपनाने के जुर्म में क़ैद कर दिया था । जब औरंगज़ेब दक्षिण का सूबेदार हुआ तो उसने शाहजहाँ से इन्द्रमान की रिहाई के लिए बहुत ज़ोरदार सिफ़ारिश की । लेकिन शाहजहाँ कुछ ऐसा नाराज़ था कि उसने आलमगीर (औरंगज़ेब) को लिख भेजा कि इन्द्रमान ने मुझको बहुत नाराज़ किया है । फिर भी अगर वह मुसलमान हो जाए तो उसे रिहाई मिल सकती है । औरंगज़ेब ने इस हुक्म के ख़िलाफ़ सख़्त प्रदर्शन किया और शाहजहाँ को लिखा कि इस शर्त पर आज्ञापालन तो नहीं हो सकता, क्योंकि यह इस्लामी नैतिकता के सरासर ख़िलाफ़ है और तंग-नज़री पर आधारित है । और फिर लिखा कि यदि उसे रिहाई देनी है तो बस उन्हीं शर्तों पर दी जाए जो कि उसने स्वयं पेश की हैं ।

— इंडिया डिवाइड

(मआरिफ़, अक्तूबर सन् 1950 ई०, लेख — डॉ० राजेन्द्र प्रसाद)

डॉक्टर साहब ने और लिखा है कि—

"आलमगीर ने ईलचपुर में 'दीवानी' का पद जब ख़ाली हुआ तो शाहजहाँ से एक राजपूत अफ़सर की हर संभव सिफ़ारिश की लेकिन किसी कारण से शाहजहाँ ने स्वीकार नहीं किया। औरंगज़ेब ने दोबारा लिखा कि उससे बेहतर आदमी नहीं मिल सकता। अतएव शाहजहाँ को उसी की नियुक्ति करनी पड़ी।" (रुक़आते आलमगीर, पृ॰ - 114)

"तारीख़े हिन्द" के लेखक प्रोफ़ेसर राय प्रसाद जी खोसला (पटना यूनिवर्सि लिखते हैं कि —

"औरंगज़ेब आलमगीर ने नौकरी के लिए इस्लाम की शर्त कभी नहीं लगाई। बादशाह इस्लाम की हिफ़ाज़त करनेवाला ज़रूर समझा जाता है, लेकिन ग़ैर-मुस्लिम प्रजा पर कोई सख़्ती और दबाव नहीं था। बाबर से औरंगज़ेब तक, मुग़लों का इतिहास संकीर्ण-दृष्टिता और फ़िरका-परस्ती की कड़वाहट से पाक है।"

औरंगज़ेब अपनी प्रजा के योग्य और प्रतिभाशाली लोगों का मनोबल बढ़ा करता था। इस सिलसिले में आलमगीर का एक ख़त पढ़ने के योग्य है, जो उ मालवा प्रान्त में एक बाग़ी गिरोह की हार और उस राजकुमार की सफ़लता पर लि था जो उस मोर्चे में सम्मिलित था —

"तुम्हारे बहुत अच्छे सेनापति त्रिलोक चंद की कोशिश से यह जीत हासिल हुई है। अर्थात् गौरैया ने बाज़ को शिकस्त दी है। इसलिए उसको 'राय' की उपाधि देकर घोड़ा, तलवार और ख़िल्अत आदि इनाम दे रहा हूँ। तुम भी उसके साथ ऐसी अनुकम्पा करो कि वह अपने साथियों में प्रतिष्ठित व सबसे उच्च हो और दूसरे राज-कर्मचरियों को अच्छे नतीजों की उम्मीद और अच्छी सेवा का शौक़ पैदा हो सके।"

(दावत, 22 अक्टूबर, सन् 1963 ई॰)

यह एक हक़ीक़त है कि आलमगीर अपनी ग़ैर-मुस्लिम प्रजा के साथ निहायत इनसाफ़ और इनसानियत का बरताव करता था । उसी दौर के पंजाब के सूबेदार और कुम्हार की लड़की का क़िस्सा अकसर पत्रिकाओं में उद्धृत होता रहता है । घटना, संक्षेप में, यह थी कि पंजाब के सूबेदार की नीयत एक कुम्हार की लड़की देखकर बदल गई थी । उसने कुम्हार को बुलाकर लड़की की माँग की और कहा कि हम एक माह बाद इधर दौरे पर आएँगे उस समय लड़की को तैयार रखना । कुम्हार स्वाभिमानी था । वह बेचारा उस ज़ालिमाना हुक्म को सुनकर बहुत दुखी हुआ, लेकिन उसकी बीवी ने उसे तसल्ली दी और कहा कि दिल्ली का बादशाह बड़ा नेक और न्यायनिष्ठ है । वह फ़रियाद करनेवाले को मायूस नहीं लौटाता । तुम उसके पास जाओ और बताओ कि हम हिन्दू कुम्हार हैं । आपका सूबेदार हमारा धर्म भ्रष्ट करके हमारी मासूम लड़की को अपने घर में रखना चाहता है । यह अत्याचार है । हमारी सहायता करो और इस अत्याचार से हमें बचाओ ।

अतएव, बीवी की ज़िद पर कुम्हार दिल्ली आया और शहंशाह आलमगीर को रो-रोकर अपनी दुख भरी कहानी सुनाई, जिसे सुनकर आलमगीर की आँखें क्रोध से लाल हो गईं । उसने उस दुखी को सांत्वना दी और कहा कि "तुम्हारी बेटी हमारी बेटी है । तुम्हारा अपमान, हमारा अपमान है । हम अवश्य तुम्हारी फ़रियाद पूरी करेंगे और तुम्हारी सहायता करेंगे । जिस दिन उस ज़ालिम सूबेदार ने तुम्हारे घर आने का वादा किया है, हम उसके आने से पहले ही तुम्हारे घर होंगे । इत्मीनान रखो । तुम्हारी इज़्ज़त व आबरू की रक्षा की जाएगी । यह हमारा परम कर्त्तव्य है ।"

कुम्हार खुशी-खुशी घर लौट आया ।

> आलमगीर ने कुम्हार से जो वादा किया था उसके मुताबिक़ बिलकुल अकेला उस ख़ास दिन पर उसके घर पहुँचा और ख़ुद अपनी तलवार से उस ज़ालिम सूबेदार को उसकी करनी की सज़ा दी । यह ऐतिहासिक घटना औरंगज़ेब की न्यायनिष्ठा और प्रजा-पालन का बेहतरीन उदाहरण है ।
>
> दावत, 2 अक्टूबर सन् 1967 ई०)

यह कहानी एक सिख विद्वान ने भी 'मालवा इतिहास', भाग - 1, पृष्ठ - 118 पर उद्धृत की है ।

औरंगज़ेब ने बनारस के एक विद्वान ब्राह्मण का वज़ीफ़ा दो हज़ार रुपया वार्षिक नियत किया और सुंदर ब्राह्मण को 'कौकब कवि' की उपधि से नवाज़कर बड़ी जागीर प्रदान की ।

औरंगज़ेब और धार्मिक आज़ादी

धर्म का मामला शीशे की तरह है — बड़ा नाज़ुक, बड़ा स्वाभिमानपूर्ण । ज़रा-सी खनक से उसमें बाल पड़ जाता है, इसलिए उसकी रक्षा बड़ी सतर्कता व सावधानी से की जाती है । क़दम-क़दम पर ख़याल रखा जाता है कि कहीं उसमें ठेस न लग जाए । फिर भला ज़बरदस्ती कौन अपना धर्म बदलने को तैयार हो सकता है । लेकिन, अफ़सोस यह है कि आलमगीर पर यह ज़बरदस्त इलज़ाम है कि जब तक वह सवा मन जनेऊ नहीं उतरवा लेता था उस वक़्त तक खाना खाने नहीं बैठता था, जिसका अर्थ यह है कि रोज़ चालीस-पच्चास हज़ार हिन्दुओं को या तो मुसलमान बनाया जाता था, या क़त्ल कर दिया जाता था । लेकिन इस इलज़ाम की काट तो इस तरह हो जाती है कि आज भी हिन्दुओं की इस देश में आबादी बहुत अधिक है और मुसलमानों की जनसंख्या खुद औरंगज़ेब के दौर में भी एक करोड़ से आगे नहीं बढ़ी ।

अब रही यथार्थ की खोज तो इसके लिए हम अपनी राय नहीं, बल्कि कुछ सम्मानित ग़ैर-मुस्लिम आचार्यों की न्यायसंगत राय प्रस्तुत करते हैं, जिससे अन्दाज़ा लगाया जा सके कि यद्यपि धर्म उसके जीवन का बड़ा अटूट अंग था, लेकिन तंगदिली उसे छू तक नहीं पाई थी । मात्र धार्मिक भेद के आधार पर किसी को कष्ट व तकलीफ़ पहुँचाना उसे किसी भी स्थिति में बर्दाश्त न था ।

• बंगाली इतिहासकार सर यदुनाथ सरकार "तारीख़े औरंगज़ेब" (औरंगज़ेब का इतिहास) में लिखते हैं कि —

> "औरंगज़ेब का इतिहास भारत के साठ साल का अत्यन्त स्वर्णिम इतिहास है । उसने किसी हिन्दू को जबरन मुसलमान नहीं बनाया, न अमन की

हालत में किसी हिन्दू की जान ली । वह उदारता में किसी प्रकार भी अपने अग्रगामी मुग़ल बादशाहों से कम नहीं ।''

इसके अलावा और व्याख्या करते हुए लिखते हैं कि —

''बनारस की मसजिद 'ज्ञानवापी' के सम्बंध में कहा जाता है कि औरंगज़ेब ने मंदिर तोड़कर उसे बनवाया था । उसकी हक़ीक़त यह है कि उस जगह कोई मंदिर उसके ज़माने में न था, बल्कि अकबर के 'दीने इलाही' की एक (संस्था) थी जिसे सन् 1627 ई॰ में शाहजहाँ ने तोड़कर मसजिद बनवा दी थी और उसका ऐतिहासिक नाम 'ऐवाने शरीअत' रखा था ।'' (दावत)

एक अंग्रेज़ पर्यटक की आँखों देखी गवाही

हेमिल्टन नामक एक अंग्रेज़ पर्यटक औरंगज़ेब आलमगीर के दौर में भारत आया था । वह अपने सफ़रनामे में विविध शहरों का चश्मदीद अनुभव अंकित करते हुए शहर ठठ के बारे में लिखता है —

''हुकूमत का परिपूर्ण धर्म 'इस्लाम' है । किन्तु जनसंख्या में यदि दस हिन्दू हैं तो एक मुसलमान है । हिन्दुओं के साथ धार्मिक उदारता पूरी तरह बरती जाती है । वे अपने व्रत रखते हैं, पूजा-पाठ करते हैं और त्योहारों को उसी तरह मनाते हैं जैसे कि अगले ज़माने में मनाते थे जबकि बादशाहत व शासन हिन्दुओं का था ।''

(सफ़रनामा हेमिल्टन, भाग 1, पृष्ठ 127 से 128)

इसी सफ़रनामा में 'सूरत' शहर का उल्लेख करते हुए लिखा है —

''उस शहर में अनुमानत: सौ विभिन्न धर्मों के लोग रहते हैं, लेकिन उनमें कभी कोई झगड़ा उनकी आस्थाओं व पूजा-पद्धति के बारे में नहीं होता । प्रत्येक को पूरा अधिकार है कि जिस प्रकार चाहे अपने तरीक़े से अपने पूज्यों व देवी-देवताओं की उपसना करे । सिर्फ़ धर्म की भिन्नता के आधार पर किसी को कष्ट व तकलीफ़ पहुँचाना इन मुस्लिम लोगों के स्वभाव में किंचित् मात्र भी नहीं है ।''

(सफ़रनामा हेमिल्टन, भाग-1, पृ॰ 162)

डॉक्टर बरनियर का आँखों देखा हाल

एक दूसरे फ्रांसीसी पर्यटक डॉक्टर बरनियर दिल्ली के सूरज-ग्रहण के स्नान और पूजा पाठ का दृश्य देखते हुए लिखते हैं —

> "मुस्लिम शासकों की शासन-प्रणाली का यह एक अंग है क़ि वे हिन्दुओं की परम्पराओं व प्रथाओं में हस्तक्षेप करना उचित नहीं समझते और उन्हें अपनी धार्मिक परम्पराओं को पूरा करने की पूरी स्वतंत्रता देते हैं।"

डॉक्टर बरनियर के वक्तव्य से इस बात की भी पुष्टि होती है कि उस समय भारत में लगभग 25 हज़ार ईसाई आबाद थे, जो अपनी धार्मिक परम्पराओं को स्वतंत्र ढंग से अदा करते थे। स्वतंत्रता की यह स्थिति थी कि वह अपने धर्म का प्रचार-प्रसार खुलेआम कर सकते थे और उनके पादरियों ने अपनी पाठशालाएँ और मठ भी बना लिए थे। (रिसाल-ए-मौलवी, रबीउस्सानी, सन् 1959 ई॰, पृष्ठ - 33)

मिस्टर टी॰ डब्लू आर्नल्ड का क़ीमती मत

बलपूर्वक मुसलमान बनाने के बारे में वे लिखते हैं —

> "औरंगज़ेब के दौर के इतिहास की पुस्तकों में जहाँ तक मैंने तलाश किया है, बलात् मुसलमान करने का उल्लेख कहीं नहीं मिलता।"
>
> ('प्रीचिंग आफ़ इस्लाम', पृ॰ 379)

इतिहासकार इन्फ़िस्टन का बयान

इन्फ़िस्टन ने अपनी उत्कृष्ट रचना "तारीख़े हिन्द" (भारत का इतिहास) में लिखा है :—

> "यह साबित नहीं होता कि किसी हिन्दू को उसके धर्म के कारण औरंगज़ेब ने क़त्ल, क़ैद या जुर्माना की सज़ा दी हो या किसी व्यक्ति पर एलानिया अपने धर्म के मुताबिक़ पूजा-पाठ करने के कारण एतिराज़ किया गया हो।"

अन्य देशवासियों की आँखों देखी गवाहियों और उल्लेखों के बाद अब अपने

देश के कुछ न्यायनिष्ठ हिन्दू विद्वानों के बयान भी पेश करते हैं, ताकि उस रौशनी में आलमगीर की सही तसवीर सामने आ सके —

हिन्दू मंदिर और आलमगीर

एक सुप्रसिद्ध आर्य समाजी प्रचारक मेहता जैनमी जी, बी॰ ए॰ अपनी किताब ''औरंगज़ेब की ज़िन्दगी का रौशन पहलू'' में हिन्दुओं को सताने और उनपर सख़्ती करने के इलज़ाम का खण्डन करते हुए लिखते हैं कि ''यह सरासर झूठा और बेबुनियाद इलज़ाम है ।'' इस क्रम में उन्होंने आलमगीर का एक फ़रमान नक़ल किया है, जिसकी असल कॉपी 'रायल एशिएटिक सोसाइटी, बंगाल' के पास सुरक्षित है—

शाही फ़रमान, तारीख़ 28 फ़रवरी, सन् 1619 ई॰

> ''हमारी शरीअत के मुताबिक़ यह निश्चित पा चुका है और फ़तवा दिया जा चुका है कि प्राचीन मन्दिरों को हरगिज़ न तोड़ा जाए । हमारे शाही दरबार में यह ख़बर सुनी गई है कि कुछ अधिकारियों ने हिन्दुओं को, जो बनारस में रह रहे हैं, परेशान कर रखा है और उसके आस-पास के लोगों और विशेषकर उन ब्राह्मणों को उनके प्राचीनतम मूर्तिगृह से निकालना चाहते हैं । इसलिए हमारा शहंशाही फ़रमान यह है कि आप उन अधिकारियों व हाकिमों को हिदायत कर दें कि भविष्य में कोई स्थानीय प्रशासक (हाकिम) क़ानून के ख़िलाफ़ किसी भी ब्राह्मण या अन्य दूसरे हिन्दू को जो उन स्थानों पर रहते हैं या आचार्य हैं, न तो किसी प्रकार का कष्ट या तकलीफ़ दें और न उनके कारोबार में हस्तक्षेप करके बाधक हों ।''

बाबू निरंजन सेन का बयान

इस वृतांत को बाबू निरंजन सेन बी॰ ए॰; एल॰ एल॰ बी॰, ने 'बनारस सिटी' नाम की अपनी रचना में इस तरह नक़्ल किया है —

> ''औरंगज़ेब को ख़बर पहुँची कि बनारस के कुछ हाकिम ब्राह्मणों को सताते हैं, तो उसने बनारस के गवर्नर अबुल हसन को फ़रमान भेजा कि

हमारी शरीअत का हुक्म है कि मंदिर न ढाए जाएँ और न उनके पुजारियों पर सख़्ती की जाए । अतः हुक्म दिया जाता है कि कोई व्यक्ति ब्राह्मण या किसी हिन्दू पर किसी प्रकार का दबाव न डाले ।''

एक ही विषय पर दो गवाहियाँ उसके सच्चा होने का ठोस प्रमाण हैं । इससे पता चलता है कि आलमगीर के दौर में मन्दिरों की रक्षा की जाती थी । अगर उसके विरुद्ध वह अमल करता तो आज हिन्दुस्तान में शायद एक मंदिर भी दिखाई न देता । प्रसिद्ध इस्लामी इतिहासकार मौलाना शिबली नोमानी इस सिलसिले में लिखते हैं —

> ''आलमगीर दक्षिण में 25 साल तक रहा । उसके पास-पड़ोस में हज़ारों बुतख़ाने (मूर्तिगृह) और मन्दिर मौजूद थे, लेकिन इतिहास में एक शब्द भी नहीं मिलता कि उसने किसी बुतख़ाने को तोड़ने की नीयत भी की हो ।''
>
> ''एलोरा-अजन्ता के मशहूर मन्दिर में सैकड़ों बुत और तसवीरें हैं । आलमगीर उस क्षेत्र में एलोरा से दो मील की दूरी पर (खुल्दाबाद नामक शहर में) दफ़्न है । बड़े-बड़े इस्लाम के माननेवाले बुज़ुर्गों के मज़ार (क़ब्र) यहाँ हैं, जो आलमगीर औरंगज़ेब से पहले गुज़रे हैं । किन्तु ये बुत और तसवीरें अपनी जगह आज तक सुरक्षित हैं ।''
>
> (औरंगज़ेब आलमगीर, लेखक शिबली, पृष्ठ : 59)

मंदिरों को भेंट और जागीरें

इस के विपरीत इतिहास के पन्ने यह साबित करते हैं कि औरंगज़ेब ने मंदिरों के अनुदान मुक़र्रर किए जो पहले नहीं मुक़र्रर हुए थे तथा बख़्शिशों और जागीरों से नवाज़ा । क्षेत्र रामनगर धुमेड़ी, ज़िला बाराबंकी के भूतपूर्व प्रबंधक श्री बाबू नारायण ने ''सियासत'' अख़बार (लाहौर) की 18 जुलाई, सन् 1924 ई० के अंक में बड़ी खोजबीन के बाद औरंगज़ेब भेदभाव-रहित व्यवहार के सम्बंध में लिखा था, जिसका कुछ भाग निम्नलिखित पंक्तियों में प्रस्तुत किया जाता है । वे कहते हैं कि ''हिन्दू उपासना-गृहों को तबाह करने की कहानी मात्र अनुमान और कल्पना पर आधारित है—

1. ज़िला सीतापुर में ''मिश्रित्व'' हिन्दुओं की एक मशहूर इबादतगाह है। मिश्रित्व के महन्त के पास बादशाह आलमगीर की अता की हुई एक शाही सनद मौजूद है जिसके ज़रिए से बहुत-से गाँव महन्त जी को धार्मिक ख़र्च के लिए प्रदान किए गए थे, जो अब तक उसी तरह चले आ रहे हैं।

2. मथुरा में बलदेव जी का मन्दिर है। उस मंदिर के ख़र्चों के लिए बादशाह औरंगज़ेब ने बहुत-से अनुदान दिए जो आज भी ऊपर लिखित मंदिर के क़ब्ज़े में हैं।

3. इलाहाबाद में संगम पर अकबर का बनवाया हुआ क़िला है जिसमें एक भव्य मंदिर है जहाँ सैकड़ों वर्ष पुरानी मूर्तियाँ हैं। वह औरंगज़ेब के क़ब्ज़े में था, किन्तु उसे किसी प्रकार का नुक़ासन नहीं पहुँचाया गया।

4. आजकल यह तरीक़ा हो गया है कि जो मूर्तियाँ कहीं टूटी हुई मिलती हैं, उनको लोग औरंगज़ेब की तोड़ी हुई बताते हैं। किन्तु वास्तविकता यह है कि वे स्वामी शंकराचार्य के समय में तोड़ी गई थीं। काशी में विश्वनाथ का मंदिर अवश्य औरंगज़ेब के दौर में ध्वस्त किया गया लेकिन तोड़ने की वस्तुस्थिति का पता करने और सूत्रपात का अवलोकन करने पर उसके तोड़ने का कारण धार्मिक भेद-भाव नहीं, बल्कि उसकी तह में राजनैतिक ज़रूरत महसूस होती है। क्योंकि यह मंदिर वाममार्ग का अड्डा बन गया था और उससे प्रजा का चारित्रिक व नैतिक पतन हो रहा था।

(सियासत लाहौर, 18 जुलाई सन् 1962 ई०)

इसी प्रकार का बयान पंडित सुन्दर लाल जी का है, वे कहते हैं कि —

''भारत में अनगिनत मंदिर थे। यदि वास्तव में औरंगज़ेब मंदिरों का दुश्मन होता तो उन सभी मंदिरों को एक-एक करके ध्वस्त कर देता, किन्तु उसने ऐसा नहीं किया। हाँ, वे मंदिर अवश्य गिराए गए जहाँ उसके ख़िलाफ़ साज़िशें की जाती थीं और जो बग़ावत और राजनैतिक सरगर्मियों के अड्डे बन गए थे। अत: साज़िशों के कारण औरंगज़ेब ने जान-बूझकर मसजिदों को भी तोड़ा है।'' (दैनिक दावत, दिल्ली)

प्रोफ़ेसर ईश्वरी प्रसाद जो उस काल के विश्वस्त इतिहासकार हैं, अपने इतिहास की पुस्तक में स्वीकार करते हैं कि औरंगज़ेब ने मंदिरों को अनुदान और जागीरें प्रदान की हैं । अत: वे लिखते हैं —

> "मुलतान में तोतला माई के मंदिर को एक सौ रुपये सालाना की जागीर आलमगीर ने प्रदान की । डेरादून के गुरुद्वारा को जागीर दी । हिन्दुओं पर यात्रा-कर, जो पहले से चला आ रहा था, समाप्त कर दिया ।"

सत्यार्थ प्रकाश की गवाही

इस क्रम में 'सत्यार्थ प्रकाश' का बयान पढ़ने योग्य है । सत्यार्थ प्रकाश के लेखक फ़रमाते हैं —

> "…. अब जितनी मूर्तियाँ जैनियों की निकलती हैं वे शंकराचार्य के समय में टूटी थीं और जो बिना टूटी निकलती हैं वे जैनियों ने भूमि में गाड़ दी थीं कि तोड़ी न जाएँ ।" — सत्यार्थ प्रकाश, पृ॰-207, संमुल्लास ग्यारहवां (अद्वेत्यवाद समीक्षा), 37वां सं॰, अप्रैल, 1989 आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, खारी बावली, दिल्ली-6

इस लेखांश से इस आरोप का आप से आप खण्डन हो जाता है जो कुछ लोग मुसलमानों पर आक्षेप लगाते हैं कि मुसलमानों ने हिन्दुओं के मंदिर ध्वस्त किए और मूर्तियों को तोड़ा ।

सारांश

इन बयानों के झरोखों से जब हम आलमगीर के व्यक्तित्व का जाइज़ा लेते हैं तो मौजूदा इतिहास की बहुत-सी बेबुनियाद बातों की हक़ीक़त सामने आ जाती है जो अंग्रेज़ी दौर में ख़ास मसलिहत से गढ़ी गई थीं और अब तक इतिहासों में नक़ल होती चली आ रही हैं । यद्यपि स्वतंत्र भारत में इस बात की अत्यंत आवश्यकता थी कि हम अंग्रेज़ों की गुमराह करनेवाली बातों का निवारण करतें और उनकी "फूट डालो, राज करो" की नीति को समझते । अंग्रेज़ की इस नीति ने हमारे सीधे और

सच्चे इतिहास को विकृत करके हमारे सामने पेश किया ताकि हम आपस में लड़ते रहें ।

किन्तु अब वह दौर गुज़र चुका है । अंग्रेज़ अपने देश को जा चुके । हम लोग आज़ाद हो गए । हमें इस देश में रहना है, इसलिए एक-दूसरे को समझना भी है । मुसलमनों ने अपने प्रभुत्व काल में जैसा कि अपने-परायों की राय से साफ़ ज़ाहिर हो गया, हिन्दुओं से बराबरी व भाईचारगी का व्यवहार किया । उनको धार्मिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक स्वतंत्रता दी । हुकूमत के ऊँचे पदों का द्वार उनके लिए खुला रखा । कभी किसी हिन्दू ने बग़ावत भी की तो उसकी नदामत के इज़हार पर माफ़ कर दिया और नई पदवियों से नवाज़ा । हिन्दू लोग हमेशा अपने मज़हब की बढ़ोत्तरी और प्रचार-प्रसार में लगे रहे । इस बारे में उनसे कोई विरोध नहीं किया गया । गुरु रामानन्द, गुरु नानक, महाप्रभु चेतन्य के व्यक्तित्व इस बात की साक्षी हैं कि मुस्लिम हुकूमत में हिन्दुओं को धर्म-प्रचार की पूरी स्वतंत्रता थी तथा हिन्दुओं का वह पुराना लिट्रेचर व साहित्य जिसपर वे गर्व करते हैं मुसलमानों के प्रभुत्व-काल की पैदावार है । तुलसी दास और सूरदास जैसे लोग मुसलमानों के दौर में हुए जिनकी रचनाएँ हिन्दू सम्प्रदाय के लिए आज भी गौरव की पूँजी हैं ।

इसके अलावा जैसा कि पहले बताया जा चुका है, मुसलमानों ने हिन्दुओं की ज्ञान-विज्ञान व कला को ग्रहण करने और उन्नति देने में किसी भेदभाव से काम नहीं लिया । मलिक मुहम्मद जायसी, अब्दुर्रहीम ख़ान ख़ाना और रसखान का हिन्दी काव्य में कोई मामूली स्थान नहीं है । साथ ही मुसलमान बादशाहों की ओर से ग़ैर-मुस्लिमों के प्रति उदारता व दानशीलता की इतनी प्रचुरता से मिसालें मिलती हैं कि जिनका हिसाब लगाना मुशकिल है । मुस्लिम औलिया से हर ज़माने में हिन्दू और मुसलमानों ने आध्यात्मिक लाभ उठाया है । उनके प्रेम व स्नेह और सद्व्यवहार के सिलसिले में तो हमने किताब के वृहद हो जाने के डर से कुछ कहा ही नहीं है, यद्यपि यह बात सब जानते हैं कि उनके निकट जनकल्याण और जनसेवा सबसे बड़ी धर्मपरायणता थी।

बहरहाल, सफ़ेद व सियाह में स्पष्ट अन्तर है । कोई सफ़ेद कपड़ा इसलिए काला नहीं हो सकता कि किसी ने अपनी आँखों पर काली ऐनक लगा रखी है । इसी प्रकार कोई रौशनी इसलिए झूठी नहीं हो सकती कि कुछ देखनेवाली आँखें बन्द हैं । इस्लाम एक रौशनी है जो चौदह सौ साल से जगमगा रही है । उसके स्वभाव में

प्रथम दिन से ही नैतिक उच्चता है । उन ऊँचाइयों से उतरकर मात्र क़ौमी क़िस्म का किरदार अपनाने में उसने हमेशा बेइज़्ज़ती महसूस की है । कहाँ इनसानियत, हक़ और सच्चाई के बुलंद मक़सद और कहाँ भेदभाव, साम्प्रदायिकता और क़ौमी कशमकश की तंगियाँ । इस्लाम इन ख़राबियों से पाक है, उसने अपने पैरवी करनेवालों को भी ताकीद की है कि वे हमेशा बुलंद मक़सद अपनी नज़र के सामने रखें ।

इतनी लम्बी अवधि में जिसमें मुसलमानों की हुकूमत यहाँ रही, कुछ गिने-चुने बादशाहों ने कहीं कोई ज़ुल्म भी किया हो लेकिन यह उसका व्यक्तिगत आचरण व कर्म है । इस्लाम का उस ज़ुल्म से दूर का भी रिश्ता नहीं और इस्लाम इसकी न गुंजाइश रखता है न किसी को इसकी इजाज़त देता है । इस्लाम ज़ुल्म व सितम, बल्कि ज़्यादती करनेवालों को मुजरिम व अपराधी घोषित करता है और मुहब्बत व स्नेह के साथ ज़िन्दगी बितानेवालों को अल्लाह का दोस्त कहता है ।

भारत में जो मुस्लिम बादशाह गुज़रे हैं, यद्यपि वे पूरे इस्लाम का नमूना नहीं थे, लेकिन यह भी वास्तविकता है कि दूसरी कोई क़ौम उन जैसे बुलंद आचरण के लोग प्रस्तुत करने से असमर्थ है । इस बारे में हम हिन्दुस्तान के एक भूतपूर्व गवर्नर जरनल लार्ड विलियम बेंटिक का वह ऐतिहासिक बयान प्रस्तुत करते हैं जो उसने मुसलमानों के सत्ताकाल की अंग्रेज़ी सत्ताकाल से तुलना करते हुए लिखा था । बयान के शब्द ये हैं —

> "प्राय: दृष्टिकोण से मुसलमानों का सत्ताकाल हमारे सत्ताकाल से अच्छा रहा । उन्होंने जिस देश को विजय किया, उसे अपना वतन बना लिया । उन्होंने स्थानीय नागरिकों से शादियाँ कीं । उनके साथ घुल-मिल गए । उन्होंने उनको तमाम सहूलतें और सम्मान प्रदान किए । यहाँ तक कि शासक और शासित के हितों में कोई अन्तर नहीं रहा । इस प्रकार हमारी नीति बिलकुल उनके विरुद्ध रही — स्वार्थपूर्ण, मुर्दा और संवेदनहीन नीति ।" (हिन्दू मुस्लिम मुश्तरका तहज़ीब, लेखक: डॉ॰ सैय्यद महमूद, पत्रिका मद़ीना, बिजनौर ।)

"मैं हूँ अपनी शिकस्त की आवाज़" के अनुसार, लार्ड विलियम बेंटिक के ये शब्द ऐतिहासिक घटनाओं की पुष्टि के लिए पर्याप्त हैं ।